



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

श्रीपूज्यपादाचार्य-विगचित

समाधितंत्र

(सटीक)

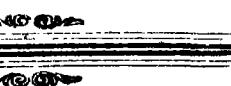


अनुवादक

परमानन्द शास्त्री

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशक
बीरसेवामन्दिर



बौर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम मरणा

कान नं.

ग्राहक

वीरसेवामन्दिर-प्रन्थमालाका प्रथम प्रन्थ

श्रीमत्यूज्यपादाचार्य-विरचित

समाधितंत्र

टीकाद्वय-संयुक्त

अध्यान

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृतटीका और
पं० परमानन्द जैनशास्त्रिकृत सान्वयार्थ
हिन्दी टीकासे अलंकृत।

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक

'वीर-सेवा-मन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर

प्रथम संस्करण
११०० प्रति

वीरनिर्बाण-संबत् २४६५
वि० सं० १९९६, सन् १९३९

{ मूल्य
आत्म-विचार

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ समर्पण	३
२ ग्रन्थके प्रकाशनमें धनकी सहायता देनेवाले सज्जन	४
३ प्रकाशकके दो शब्द	५-६
४ अनुवादकीय निवेदन	७-८
५ प्रस्तावना—	१-२१
[क] श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ—जैनन्द्रव्याकरण, वैदिकशास्त्र, शब्दावतार और मर्वार्थमिद्वि, इष्टोपदेश आदि दूसरे ग्रन्थ, मार्गसंग्रह; जीवनघटनाएँ, पितृकुल और गुरुकुल	८-१०
[ख] समाधितंत्र-परिचय, ग्रन्थनाम और पद्यसंख्या	१०-१९
[ग] टीकाकार प्रभाचन्द्र	१९-२१
६ प्रस्तावनाकी कुछ अशुद्धियाँ	२१
७ समाधितंत्रकी विषयानुक्रमणिका	२२-२४
८ समाधितंत्र ग्रन्थ, संस्कृत और हिन्दी टीकासहित	१-१०५
९ शुद्धिपत्र	१०६-१०७
१० समाधितंत्रके पद्योंकी वर्णानुक्रम-सूची	१०८



— — —



सुन्दरी

जिनकी सम्प्रेरणाको पाकर मैं इस 'समाधितंत्र'
यन्थके अनुवाद-कार्यमें प्रवृत्त हुआ और
सफलता-पूर्वक उसे समाप्त किया उन
यमप्रेमी, विद्यानुरागी, परोपकारपगायण,
त्यागमृति, पूज्य वाचा भागीरथजी
बर्णीकं कर-कमलोंमें अपना यह
अनुवाद सादा समर्पण
करता हूँ ।

विनोद

परमानन्द जैन

ग्रन्थके प्रकाशनमें धनकी सहायता देनेवाले सज्जन

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें बाबा भागीरथजी वर्णीको प्रेरणाको पाकर जिन सज्जनोंने धनकी सहायता प्रदान की है वे सब धन्यवादके पात्र हैं। उनके शुभ नाम सहायता की रकम सहित इस प्रकार हैं :—

- १२५) श्रीजैनस्त्री-समाज, पहाड़ी धीरज, देहली।
- १००) श्रीमती शकुन्तला देवी, सुपुत्री ला० माडेलालजी जैन रईम खनौली जि० मुजफ्फरनगर, धर्मपत्नी रायसाहब बाबू किशनलाल जी एडवीकेट कानपुर।
- ५०) श्रीमती जैनमती देवी, सुपुत्री उक्त ला० माडेलालजी, धर्मपत्नी ला० दर्शनलालजी रईम देहरादून।
- ४०) श्रीमती रामप्यारीजी, माता ला० कन्हैयालाल जैन हलवाई घंटेवाला, देहली।
- ४०) ला० स्वरूपलालजी ठेकेदार, बरनावा जि० मेरठ।

३५५) जोड़

—प्रकाशक



प्रकाशकके दो शब्द

दो वर्षमें कुछ ऊपर हुए श्रद्धेय बाबा भागीरथजी वर्णी वीर-सेवामन्दिरमें पधारे थे और कोई साढ़े तीन महीनेके करीब ठहरे थे। उस समय आपने इस ग्रन्थ-को संशोधनादि-पूर्वक ल्रपा देनेका काम मेरे सुपुर्द किया था। वीरसेवा-मन्दिरकी नई व्यवस्थाओंके बश अनवकाशसे लगातार घिरा रहेनेके कारण मुझे कुछ अमें तक भाषा टीकाको जाँचने और उसमें उचित संशोधन कर देनेका कोई अवसर नहीं मिल मका। कार्यको प्रारम्भ करनेपर भी बीचमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। आखिर १४ जून मन् १९३८ को १६ रिम कागजकी-विलटी-सहित ग्रन्थ प्रेसमें दिया गया और उसकी आधेके करीब साक प्रेस-कापी उसी समय प्रेसके हवाले की गई और शेष बादको भेजी जाती रही। जिस प्रेसकी योजना का गई उसकी अच्छी ख्याति थी और यह आशा थी कि वह समयपर अपने बाडेके अनुसार काम देगा—बाद भी अधिकमें अधिक डेढ महीनेके भीतर ग्रन्थको छापकर देनेका हो गया था। परन्तु प्रेस एक लिमिटेड कम्पनीका प्रेस होते हुए भी बहुत ही गैरजिम्मेदार तथा अपने बादोंका कच्चा निकला—उसने एक दिन भी अपना वचन पूरा करके नहीं दिया! हां, इस बीचमें वह कुछ आपत्तियोंसे भी घिरा रहा है। कहा जाता है कि ये आपत्तियां उसे अपनी पूर्वम की हुड़ कुछ राजनीतिक सवालोंके उपलक्षमें उठानी पड़ी है, जिससे वह क्षमाका पात्र अवश्य है। अस्तु; प्रेसके कारण मुझे बहुत ही हेगन व परेशान होना पड़ा—वीमियों बार म्बयं सहारनपुर जाना तथा पं० परमानन्दजी आदिको भेजना पड़ा—और उसाका फल है कि यह ग्रन्थ इतने अधिक विलम्बसे प्रकट हो रहा है। इस विलम्बमें अधिक नहीं तो ११ महीनेके विलम्बका जिम्मेदार प्रेस ज़रुर है। इस आशानीत विलम्बके कारण उक्त बाबाजी-को तथा ग्रन्थके प्रकाशनमें धनकी सहायता देने वालोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है और बाबाजीको जो विशेष आकुलता रही है उसके लिये मैं सबसे पहले क्षमा-प्रार्थी हूँ। आशा है वे मेरी इस मजबूरीके कारण मुझे ज़रुर करेंगे।

यद्यपि प्रेसकी गड़बड़के कारण ग्रन्थको ल्रपाई मेरे मनोऽनुकूल नहीं हो सकी, फिर भी इस ग्रन्थने संस्कृत टीकाके माथ जो हिन्दी टीका प्रकाशित हो रही है वह अब तकके प्रकाशित अनुवादोंमें कहीं अच्छी नथा विषयको स्पष्ट करने वाली है। माथमें प्रस्तावना भी कुछ कम उपयोगी नहीं है; एक अच्छी स्पष्ट विषयानुक-मणिका और मूलकी पद्यानुकमणिका भी माथमें लगा दी गई है। इस तरह ग्रन्थका यह मंस्करण अच्छा उपयोगी बन गया है। यह सब देखते हुए पाठकोंका ध्यान ल्रपाई-सम्बन्धी त्रुटियों पर अधिक नहीं जायगा, ऐसी आशा है।

यह ग्रन्थ बाबा भागीरथजी की इच्छानुसार ही मोटे टाडपोंमें ल्रपाया गया है, जिसमें दृद्धावस्थादिके कारण मद हाषि बाले भी यथेष्टु लाभ उठा सकें, और मुशी की बात है कि बाबाजी को यह सब प्रकारमें पसन्द आया है।

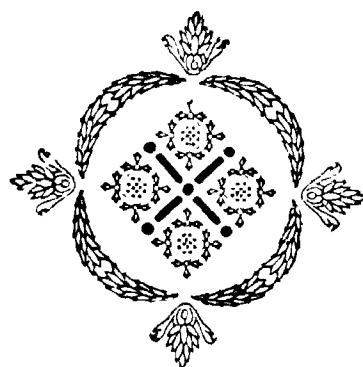
मूल ग्रन्थ कितने अधिक महत्वका है और अपनी क्या कुछ विशेषता रखता है यह सब मैंने प्रस्तावनामें प्रकट कर दिया है, उसे यहां फिरसे दोहरानेका ज़रूरत

नहीं है। मुझे तो यह ग्रन्थ बड़ा ही मंगलमय मालूम होता है, और इसी लिये वीर-सेवा-मन्दिरसे प्रकाशित होनेवाली ग्रन्थमालामें मैंने इसे मङ्गलाचरणके तौरपर प्रथम स्थान दिया है।

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा आनन्द होता है कि वाचा भागीरथजी वर्णने इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियाँ दातारों—प्रकाशनमें धनकी सहायता देनेवालों—तथा बनारस और सागरके विद्यालयोंके लिये नियन करके शेष सब प्रतियाँ वीर-सेवा-मन्दिरको इस लिये अर्पण करदी हैं कि वे उसके द्वारा 'अनेकान्त'के प्राह्कोंको उपहारमें दी जासकें और दूसरा भी उनका अच्छा उपयोग, यांग्य विद्वानोंको भेटादिके रूपमें होसके। इसके लिये वीर-सेवा-मन्दिर और अनेकान्त-कार्यालय श्रद्धेय वाचा भागीरथजी वर्णके बहुत आभारी हैं और मैं दोनोंकी ओरसे उन्हें इस उदार विचारके लिये सादर धन्यवाद भेट करता हूँ। आशा है दृमरे भी उदार महानुभाव इसका अनुकरण करेंगे और वीर सेवा-मन्दिर, उसका ग्रन्थ-माला तथा 'अनेकान्त' पत्रको इस प्रकारके सहयोगों-द्वारा अपनाकर गौरवान्वित बनायेंगे।

सरमाचा जि० सहारनपुर ३
ता० २६.७.१५३९

निवेदक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'



अनुवादकीय निवेदन

आचार्य पूज्यपादका 'समाधितंत्र' प्रन्थ अध्यात्म-रससे ओत-प्रोत है और आत्मस्वस्पदका प्राप्तिके इच्छुकोंके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसमें आत्मस्वस्पदका और उनकी प्राप्तिका बड़ा ही सुन्दर सरस वर्णन है। यह प्रन्थ मुझे बहुत प्रिय है और इसी लिये मैं इसकी हिन्दी टीका लिखनेका बहुत दिनों तक इच्छा करता रहा, पर अनवकाश आदिके कारण उसे कार्यमें परिणत न कर सका। कुछ समय बाद त्यागमृति पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णन मुझे इस प्रन्थकी टीका लिखनेकी प्रेरणा की; क्योंकि यह प्रन्थ उन्हें बहुत अधिक प्रिय है, वे इसका निरन्तर ही पाठ किया करते हैं। उनकी इस प्रेरणा और अनुरोधने मेरे हृदयमें नई सूर्वि पैदा करती। फलतः मैंने इस शुभ कार्यको सहर्ष अपने हाथनें ले लिया और कुछ समयके भीतर ही टाका बनाकर समाप्त करती, जिसका मूल्चना समाप्तिके अनंतर ही पूज्य बाबाजी-को दे दी गई।

कुछ समय बाद उक्त बाबाजीको बीमारीके कारण न्यायाचार्य पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णका घटनौजी पढ़ारना हुआ। मुझे भी आनेको आज्ञा मिली और मैं सेवामें उपस्थित होगया। उमी समय यह मिथ्र हुआ कि 'समाधितंत्र'की हिन्दी टीकाको संस्कृत टीकाके साथ प्रकाशित किया जाय और पूज्यपादाचार्यका ऐतिहासिक परिचय भी प्रस्तावन दिके रूपमें लिखाकर साथमें लगाया जाय। प्रकाशन-खर्चके लिये कुछ सज्जनोंके वचन भी प्राप्त हो गये, जिसके लिये वे सब धन्यवादके पात्र हैं।

आचार्य पूज्यपादके ऐतिहासिक परिचयके अर्थ इस प्रन्थकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेके लिये मैंने जैनममाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सरसावामें प्रार्थना की। मौभाग्यकी बात है कि उन्होंने मेरा इस प्रार्थनाको भविकार कर लिया। तदनन्तर मेरी नियुक्ति बार-सेवा-मन्दिरमें होजानं पर मुख्तार माहवने टीकाके संशोधन, सम्पादन और प्रकाशनादिके भारको अपने ऊपर लेकर और बीर-सेवा मन्दिर-प्रन्थमालामें इस प्रन्थको प्रथम स्थान देकर मुझे बड़ा ही अनुरोद्धार किया है। इस महत्वी कृपाके लिये मैं उनका बहुत ही आभारी और चिरकृतज्ञ हूँ।

इस प्रन्थके अनुवादादिकार्यमें न्यायाचार्य पूज्य पं० गणेशप्रसाद वर्णी, त्याग-मृति बाबा भागीरथजी वर्णी और सिद्धान्तशास्त्री पं० दयाचन्द्रजी न्यायर्तार्थ आदि गुरुजनोंने अपने सत्परामर्श आदि द्वारा जो सहायता प्रदान की है उसके लिये मैं उनका भी बहुत आभारी हूँ। इनके सिवाय, अन्य जिन सज्जनोंने मुझे इस कार्यमें किसी प्रकारका भी सहयोग प्रदान किया है उन सबका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ।

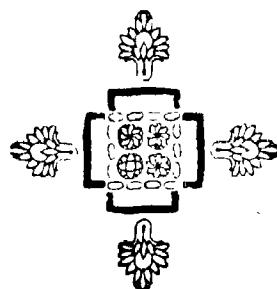
किसी प्रन्थका अनुवाद करने अथवा टीका लिखने का मेरा यह पहला ही प्रयास है। इसमें त्रुटियोंका रहजाना संभव है। अतः विद्वज्जनोंमेरा नम्र निवेदन

[८]

है कि वे इसके लिये मुझे क्षमा करते हुए उन त्रुटियोंसे कृपया सूचित करें, जिससे अगले संस्करणमें उन्हें निकाला जा सके।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरमावा }
ता० २४ ७-१९३९ }

निवेदक—
परमानन्द जैन



प्रस्तावना

श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ

जैनममाजमें ‘पूज्यपाद’ नामके एक सुप्रसिद्ध आचार्य विक्रमकी छठी (ईमार्का पाँचवीं) शताब्दीमें हो गये हैं, जिनका पहला अथवा दोक्षणानाम ‘देवनन्दा’ था और जो बादके ‘जिनेन्द्रबुद्धि’ नाममें भी लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। आपके इन नामोंका परिचय अनेक शिलालेखों तथा प्रन्थों आदि परसे भले प्रशार उपलब्ध होता है। नामेक कुछ अवतरण इसके लिये पर्याप्त हैं :—

यो देवनन्दप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।

श्रीथृज्यपादोऽज्ञनि देवताभर्यस्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥

—श्रवणबेलगोल शिरोनं ४० (६४)

प्रागभ्यधाग्नि गुरुणा किल देवनन्दा

बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः ।

श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधेः प्रचल्ये,

यस्पूजितः पदयुगे बनदेवताभिः ॥

—श्र० शिरोनं १०१ (२५४)

श्रवणबेलगोलके इन शिला-वाक्यों परसे, जिनका लेखनकाल क्रमशः शक सं० १०८५ व १३२० है यह साक जाना जाता है कि आचार्यमहोदयका प्राथ-मिक नाम ‘देवनन्दा’ था, जिसे उनके गुरु ने रखा था और इसलिये वह उनका दोक्षणानाम है, ‘जिनेन्द्रबुद्धि’ नाम बुद्धिका प्रकर्षता एवं विपुलताके कारण उन्हें बाद-को प्राप्त हुआ था; और जबसे उनके चरण-युगल देवताओंसे पूजे गये थे तबसे वे बुधजनों द्वारा ‘पूज्यपाद’ नाममें विभूषित हुए हैं।

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुरार्धाश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चर्कः ।

जिनवद्भूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥

—श्र० शिरोनं १०८ (२५८)

शक संवत् १३५५में उत्कीर्ण हुए इन शिलावाक्योंसे स्पष्ट है कि ‘श्रीपूज्यपादने धर्मराज्यका उद्घार किया था—जोकमें धर्मका पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिष्ठित-द्वारा पूजे गये और ‘पूज्यपाद’ कहलाये। आपके विद्याविशिष्ट

गुणोंको आज भी आपके द्वारा उद्वार पाये हुए—रचे हुए—गाथ बनला रहे हैं—उनका सुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक—समस्त शास्त्र-विषयोंके पारंगत—थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण करनेवाले योगीयोंने आपको ठीक ही ‘जिनेन्द्रबुद्धि’ कहा है।’ इसी शिलालेखमें पूज्यपाद-विषयक एक वाक्य और भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

**श्रीपूज्यपादमुनिरप्निमौषधर्द्विर्जीयादिदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंपर्शप्रभावात् कालायसंकिल तदा कनकीचकार ॥**

इसमें पूज्यपाद मुनिका जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय श्रीष्ठ-ऋद्धिके धारक बनलाया है। माथ ही, यह भी प्रकट किया है कि विद्वंक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्र-भगवानके दर्शनमें उनका गात्र पवित्र होगया था और उनके चरण-धोए जलके स्पर्शमें एक समय लोहा भी मोता बन गया था।

इस तरह आपके इन पवित्र नामोंके माथ कितना ही इतिहास लगा हुआ है और वह सब आपकी महत्वी कार्तिं, अपार विद्वता एवं मानिशय प्रतिष्ठाका दोनोंका है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीपूज्यपाद स्वामी एक बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य, माननीय विद्वान्, युगप्रधान और अच्छे योगीन्द्र हुए हैं। आपके उपलब्ध ग्रन्थ निश्चय हीं आपका अमाधारण्य योग्यताके जीते-जागते प्रमाण हैं। भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द-जैमं वडे शडे प्रतिष्ठित आचार्योंने अपने राजवार्तिकादि ग्रन्थोंमें आपके वाक्योंका—सर्वार्थमिद्वि आदिके पदोंका—सुला अनुमरण करते हुए बड़ा श्रद्धाके साथ उन्हें स्थान हीं नहीं दिया बल्कि अपने ग्रन्थोंका अंग तक बनाया है।

जैनेन्द्र—व्याकरण

शब्द-शास्त्र में आप बहुत ही निष्णात थे। आपका ‘जैनेन्द्र’ व्याकरण लोक-में अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है—निपुण वैयाकरणोंकी दृष्टिमें सूत्रोंके लाघवादिके कारण उसका बड़ा ही महत्व है और इसीसे भारतके आठ प्रमुख शास्त्रियोंमें आपकी भी गणना है^{५४}। किनने ही विद्वानोंने किसी आचार्यादिकी प्रशंसामें उसके व्याकरण-शास्त्रकी निपुणताको आपकी उपमा दी है; जैसा कि श्रवणबेलगोलके निम्न दो शिलावाक्योंसे प्रकट है :—

“सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम् ।”

—शि० नं० ४७, १०

“जैनेन्द्रे पूज्यपादः ।”

—शि० नं० ५५

पहला वाक्य मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवकी और दूसरा जिनचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें कहा गया है। पहलेमें, मेघचन्द्रको व्याकरण-विषयमें स्वयं ‘पूज्यपाद’ बनलाने हुए, पूज्यपादको ‘अविल-व्याकरण-परिडतशिरोमणि’ सूचित किया है और दूसरेमें

^{५४} इन्द्रश्चन्द्रः काशकृस्तपिशलीशाकबायनाः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शास्त्रिकाः ॥ —धातुपाठः ।

जिनचन्द्रके 'जैनेन्द्र' व्याकरण-विषयक ज्ञानको स्वयं पूज्यपादको ज्ञान बतलाया है, और इस तरह 'जैनेन्द्र' व्याकरणके अभ्यासमें उसकी दक्षताको धोखा किया है।

पूज्यपादके इस व्याकरणशास्त्रकी प्रशंसामें अथवा इस व्याकरणको लेखर पूज्यपादकी प्रशंसामें विद्वानोंके ढेरके ढेर वाक्य पाये जाते हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ उनमेंसे दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं :—

कवीनां तोर्थकृददेवः कितरां तत्र वर्ण्यते ।

विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥

—आदिपुराण, जिनमेनः ।

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।

शब्दाश्च येन मिद्यन्ति माधुत्वं प्रतिलम्भिताः ।

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजः ।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः षुनातु माम् ।

व्याकरणार्णवो येन तीर्णे विस्तीर्णमद्गुणः ॥

—पार्गडवपुराण, शुभचन्द्रः ।

शब्दाल्पीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे ।

—नियममारटाकायां, पद्मप्रभः ।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

द्विसंधानकबे: काव्यं रत्नव्रयमपश्चिमम् ॥

—नाममालायां, धनञ्जयः ।

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।

यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तस्कवचित् ॥

—जैनेन्द्रप्रक्रियायां, गुणनन्दी ।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्याच्चत्संभवम् ।

कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नप्रस्यते ॥

—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः ।

इनमेंसे प्रथमके दो वाक्योंमें पूज्यपादका 'देव' नामसे उल्लेख किया गया है, जो कि आपके 'देवनन्दी' नामका संक्षिप्त रूप है। पहले वाक्यमें श्रीजिनमेनाचार्य लिखते हैं कि 'जिनका वाङ्मय—शब्दशास्त्ररूपी व्याकरणतीर्थ—विद्वज्ञोंके वचन-मलको नष्ट करनेवाला है वे देवनन्दी कवियोंके तीर्थङ्कर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय ? दूसरे वाक्यमें वादिराजसूरिनं बतलाया है कि 'जिनके द्वारा—जिनके व्याकरणशास्त्रको लेकर—शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं वे देवनन्दी अचिन्त्य महिमायुक्त देव हैं और अपना हित चाहेवालोंके द्वारा सदा बंदना किये जाने के योग्य हैं। तीसरे वाक्यमें, शुभचन्द्र प्रदारकने, पूज्यस्त्राको पूज्योंके द्वारा भी पूज्यपाद तथा विस्तृत सद्गुणोंके धारक प्रकट करते हुए उन्हें व्याकरण-समुद्रको तिरजानेवाले लिखा है और साथ ही यह प्राथमा की है कि वे मुझे पवित्र करें।

चौथे में, मलधारी पश्चप्रभदेवने पृज्यपादको 'शब्दसागरका चंद्रमा' बतलाने हुए उनकी बंदना की है। पांचवें में, पृज्यपादके लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको अपूर्व रूप बतलाया गया है। छठे में, पृज्यपादको नमस्कार करने हुए उनके लक्षणशास्त्र (जैनन्द्र) के विषयमें यह घोषणा की गई है कि जो वात इस व्याकरणमें है वह तो दूसरे व्याकरणमें पाई जाती है परन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कही भी उपलब्ध नहीं होता, और इस तरह आपके 'जैनन्द्र' व्याकरणको सर्वाङ्गपूर्ण बतलाया गया है। अब रहा मात्रावाँ वाक्य, उसमें श्रीशुभचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मनः ममन्धी दोषोंका दूर कर देते हैं उन देवनन्दीको नमस्कार है।' इसमें पृज्यपादके अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख संनिहित है—दोषोंपांपोंका दूर करनेवाला तो आपका वही प्रमिद्ध 'जैनन्द्र' व्याकरण है, जिसे जिनमें से भी 'विदुपां वाङ् मलध्वंमि' लिखा है; और जिसके कड़े मंस्करण अपनी जुदा-जुदी वृत्तियों सहित प्रकाशित हो चुके हैं। चित्तदोषोंको दूर करनेवाला आपका मुख्य ग्रन्थ "समाधितंत्र" है, जिस 'समाधिशतक' भी कहते हैं, और जिसका कुछ विशेष परिचय इस प्रस्तावनामें आगे दिया जायगा। रहा कायदोपां पूर करनेवाला ग्रन्थ, वह कोई वैद्यकशास्त्र होना चाहिये, जो इस समय अनुपलब्ध है ॥

वैद्यक शास्त्र

विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके विद्वान् काव्य मंगराजने कबीरी भाषामें 'खगेन्द्र-मणिदर्पण' नामका एक चिकित्साग्रन्थ लिखा है और उसमें पृज्यपादके वैद्यकग्रन्थका भी आधाररूपसे उल्लेख किया है, जिसमें मंगराजके समय तक उम वैद्यकग्रन्थ के अस्तित्वका पता चलता है; परन्तु सुहृद्वर्ग पं० नाथूराम जीं प्रेमी उसे किसी दूसरे ही पृज्यपादका ग्रन्थ बतलाने हैं और इस नर्तजे तक पहुँचे हैं कि 'जैनन्द्र' के कर्ता पृज्यपादने वैद्यकका कोई शास्त्र बनाया ही नहीं—यों ही उनके नाम मेंहा जाता है; जैसा कि उनके "जैनन्द्रव्याकरण और आचार्य 'देवनन्दी' नामक लेखके निम्न वाक्यसे प्रकट होता है :—

"इस खगेन्द्रमणिदर्पण में वह (मंगराज) अपने आपको पृज्यपादका शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रन्थ पृज्यपादके वैद्यक-ग्रन्थमें संगृहीत है। इससे मालूम होता है कि पृज्यपाद नामके एक विद्वान् विक्रमकी नरहवीं (१४वीं?) शताब्दीमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यकग्रन्थको जैनन्द्रके कर्ता का ही बनाया हुआ समझकर उल्लेख कर दिया करते हैं।" ॥

३० पृज्यपादकी कृतिरूपसे 'वैद्यमार' नामक जो ग्रन्थ 'जैन-मिद्रान्तभास्कर' (त्रैमासिक) में प्रकाशित होरहा है वह इन श्री पृज्यपादाचार्यकी रचना नहीं है। हो सकता है कि यह मंगलाचरणादिविहान ग्रन्थ पृज्यपादके किसी ग्रन्थ परसे ही कुछ सार लेकर लिखा गया हो; परन्तु स्वयं पृज्यपादकृत नहीं है। और यह वात ग्रन्थके साहित्य, रचनाशैली और जगह-जगह नुसाखोंके अन्तमें 'पृज्यपादेन भाषितः-निर्मितः' जैसे शब्दोंके प्रयोगसे भी जानी जाती है।

३१ देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग १, अङ्क २, पृष्ठ ८३ और 'जैनहितैषी' भाग १५, अङ्क १-२, पृष्ठ ५७।

इस निर्णयमें प्रेमाजीका मुख्य हेतु 'मंगराजका अपनेको पूज्यपादका शिरा' वत्तजाना है, जो टीक नहीं है। क्योंकि पथम तो ग्रन्थ परमेण यत् सप्तु न मंगराजने उसमें अपनेको किसी दृमरे पूज्यपादका शिरा बतलाय—वह तो पूज्यपादके विदेहमत्तमी घटना तकका उल्लेख करने जिसी मम्बन्ध किसी दृमरे पूज्यपादके माथ नहीं बतलाया जाता है; मैं अपने इषु पूज्यपाद मुनीद्वारके जननद्वीपके भूम्पुर्ण मिद्रास्तमांगरका पादगाढ़ी न जाता है और अपनेको उनके चरणकमलके गन्धगुणामें आनन्दित निर्ण करत है; जैसा कि उम्रह निम्न अनितम वाक्योंमें प्रकट है :—

"इदृ भक्तल आदिम जननद्वीपम् शिद्रास्तमांगरप्याभिष्ठा श्रीपूज्यपादमुनीः उच्चार चरणार्चिद्रास्तम्भ-गुणनंदितमान्मध्यमद्व्यक्तलागम्बान्मग-रादिभुवर्चितमप्य रमेन्द्रमणिद्वासामान्पोष्याभिकारं समाप्तु ॥" —(आर-जन मित्र भ

उसमें मंगराजका पूज्यपादके माथ माद्धान गुरुशिष्यका कोई मम्ब नहीं जाता, क्योंकि न यही मात्र होता है कि मंगराजवे उम्रहरे 'दृमरे हुए'—बहुत तो वैद्यक भाष्यमें एक भूतका शिराम्-परम्—उम्रमें उम्र पहुँच है। 'श्रीपूज्यपादमप्य'के उपमें ऐसे बहुतम उल्लेख दर्शाये आते हैं। उन्हें उम्र भान्तमार्गके नम्न प्रश्नमित्र द्वयको लोकिन्, उम्रमें ग्रन्थवापि उम्र अपर वर्षमें भी अधिक पहलेके आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीका अपनेको रिष्य लाभन् नहीं किया है :—

**"म श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भृगिभावानुभावी
देवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥"**

ऐसे वाक्योंमें पदो अथवा चरणोंकी भांति आदिका अर्थ शरीरके अङ्गरूप पैरोंकी पूजादिका नहीं, किन्तु उनके पदोंकी—वाक्योंकी—सेवा—उपासनादिका होता है, जिसमें ज्ञानविशेषकी प्राप्ति होती है।

दृमरे, यदि यह मान लिया जाय कि मंगराजवे माद्धान रुक्त दृमरे पूज्य थे और उन्होंने वैद्यकका कोई ग्रन्थ भी बनाया है, तो भी उसमें यह लाजर्मा नहीं नहीं निकाला जा सकता कि उन्होंके उस वैद्यकग्रन्थके भ्रममें पछकर लोग 'जनेन्' के कर्ता पूज्यपादको वैद्यकशार्वका कर्ता कहने लगे हैं। क्योंकि ऐसा हालतमें वह यह मंगराजके उत्तरवर्ती लेखकोंमें ही होता मम्बव था—पूर्ववर्तीमें नहीं। तु पूर्ववर्ती लेखकोंने भी पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका उल्लेख तथा मंकेत किया है। वह अभ्यन्तरीन अपने उक्त लेखमें यह ग्वीकार किया है कि "श्लोकके 'काय' शब्दमें हृषि व ध्वनित होती है कि पूज्यपादस्वामीका कोई चिकित्साग्रन्थ है।" वह अभ्यन्तरीन मंगराजके साक्षान् गुरुकी कृति नहीं हो सकता; क्योंकि उसके मंकेत अभ्यन्तरीन चार्य मंगराजके गुरुसं कई शताब्दी पहले हुए हैं। ग्वी पूर्ववर्ती उसके लिये उप्रादित्य आचार्यके 'कल्याणवारक' वैद्यकग्रन्थका पद है, जिसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका "पूज्यपादेन भाषित"

द्वारा बहुत कुछ उल्लेख किया गया है और एक स्थान पर तो अपने प्रथाधारको व्यक्त करते हुए “शालाक्यं पूज्यपादप्रकटिनमधिकं” इस वाक्यके द्वारा पूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका स्पष्ट नाम भी दिया है और वह है ‘शालाक्य’ ग्रन्थ, जो कि ऋणी, नेत्र, नासिका, मुख और शिरोरोगकी चिकित्सासे सम्बन्ध रखता है। अतः प्रेमीजीने जो कल्पना की है वह निर्दीप मालूम नहीं होती।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि चित्रकवि सोमने एक ‘कल्याणकारक’ वैद्यग्रन्थ कन्नड़ी भाषामें लिखा है, जोकि मद्य-मांस-मधुके व्यवहारसे बर्जित है और जिसमें अनेक स्थानोंपर गद्य-पद्यरूपसे सम्बृत वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ पूज्यपाद मुनिके ‘वल्याणकारकवाहडसिद्धान्तक’ नामक ग्रन्थके आधारपर रचा गया है; जैसाकि उसके “पूज्यपादमुनिगलुं पेल्ड कल्याणकारकवाहडसिद्धान्तकदिष्टुं” विशेषणसे प्रकट है। इससे पूज्यपादके एक दूसरे वैद्यकग्रन्थका नाम उपलब्ध होता है। मालूम नहीं चित्रकवि सोम कब हुए हैं। उनका यह ग्रन्थ आगके जैनसिद्धान्त-भवनमें भीजूह है।

इसके सिवाय, शिमोगा ज़िलान्तर्गत ‘नगर’ ताल्लुकके ४६ वें शिलालेखमें, जो कि पद्मावती-मंदिरके एक पत्थरपर खुदा हुआ है, पूज्यपाद-विषयक जो इकीकृत वी है वह कुछ कम महत्वकी नहीं है और इसलिये उसे भी यहां पर उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। उसमें जैनेन्द्रकर्ता पूज्यपादद्वारा ‘वैद्यकशास्त्र’ के रचनेजानका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा:—

“न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं मकलवुधनुतं पाणिनीशस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजतिहित दैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिव्वतां भाष्यसौ पूज्यपाद—
स्वामी भूपालवंशः स्वपरहितवच्चः पृणद्वयोधवृत्तः ॥”

शब्दावतार और मर्वार्थमिद्वि

‘नगर’ ताल्लुकके उक्त शिलालेखमें पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका क्रमनिर्देश-पूर्वक उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे पहला ग्रन्थ है ‘जैनेन्द्र’ नामक न्यास (व्याकरण), जिसे संपूर्ण कुंभजनोंमें भूत लिखा है; दूसरा पाणिनीय व्याकरणके ऊपर लिखा हुआ ‘शब्दावतार’ नामका न्यास है; तीसरा मानव-ममाजके लिये हितस्त्रप ‘वैद्यशास्त्र’ और चौथा है तत्वार्थमूलकी टीका ‘मर्वार्थमिद्वि’। यह टीका पहले तीन ग्रन्थोंके निर्णयके बाद लिखी गई है ऐसी स्पष्ट सूचना भी इस शिलालेखमें की गई है। साथ ही, पूज्यपादम्बामीके विषयमें लिखा है कि वे राजासेक्ष्म वंदनाय थे, स्वपरहितकारी वचनों (ग्रन्थों) के प्रणेता थे और दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण थे।

इस अवतरणमें पूज्यपादके ‘शब्दावतार’ नामक एक और अनुपलब्ध प्रथका पता चलता है, जो पाणिनीय-व्याकरणहा न्यास है और ‘जैनेन्द्र’ व्याकरणके बाद लिखा गया है। विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि दृतिविलासने भी अपने ‘धर्मपरीक्षे’ नामक कन्नडी ग्रन्थमें, जो कि अमितगतिकी ‘धर्मपरीक्षा’ को लेकर क्ल यह गंगराजा ‘दुर्विर्वित’ जान पड़ता है, जिसके पूज्यपाद शिक्षागुरु थे।

लिखा गया है, पाणिनीय-व्याकरणपर पूज्यपादके एक टीकाग्रन्थका उल्लेख किया है, जो उक्त 'शब्दावतार' नामक न्यास ही जान पड़ता है। साथ ही, पूज्यपादके द्वारा भूक्षणार्थ (लोकोपकारके लिये) यंत्र-मंत्रादि-विपर्यक शास्त्रोंके रचे जानेको भी सुचित किया है—जिसके 'आदि' शब्दसे वैद्यशास्त्रका भी सहज ही में प्रहण हो सकता है—और पूज्यपादको 'विश्वविद्याभरण' जैसे महत्वपूर्ण विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। यथा—

**"भरदिं जैनेन्द्रं भासुरं एनल् आरेदं पाणिणीयके टीकुं ष-
रेदं तत्त्वार्थमं दिष्पणदिम् आरपिदं यंत्रमंत्रादिशास्त्रोक्तकरमं ।
भूरक्षणार्थं विरचिति जमधुं तालिददं विश्वविद्याभरणं
भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं ब्रतीन्द्रम् ॥"**

पाणिनीयकी काशिका वृत्तिपर 'जैनेन्द्रवुद्धि' का एक न्यास है। पं० नाथू-रामजी प्रेमाने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जैनेन्द्रवुद्धिके नामके साथ 'बोधिमत्वदेशीयाचार्य' नामकी वौद्ध-पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ वौद्धमित्रका बनाया हुआ है। आश्र्वय नहीं जो वृत्तविलास काव्यको पूज्यपाद-के 'जैनेन्द्रवुद्धि' इस नाम-मास्यके कारण भ्रम हुआ हो और इसीसे उसने उसे पूज्यपादका समझकर उल्लंघन करा दिया हो।' परन्तु उपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है आर उसे काशिकावृत्तिका नहीं वल्कि पाणिनीयका न्यास बनलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह मिछू न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्ताके नाम के साथ यदि उक्त वौद्ध-विशेषण लगा हुआ है तो वह किसीकी वादकी कृति नहीं है तब तक धर्मपराक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूज्यपादस्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor) थे, जिसका राज्यकाल इ० सन ४८८ से ५२८ तक पाया जाता है और उन्हें हेव्वुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार' के कर्तास्तपसे दुर्विनात राजाका गुरु उल्लिखित किया है।

इष्टोपदेश आदि दूसरे ग्रन्थ

इन मध्य ग्रन्थोंके अनिरिक्त सृज्यपादने आंर किनते तथा किन किन ग्रन्थोंसे अचना की है इसका अनुपान लगाना कठिन है—'इष्टोपदेश' और 'सिद्धभक्ति'^५ जैसे

^५ देखो 'काशिकान्ये मन्दिरमें 'काशिका-न्यास' दी जो हस्तलिखित प्रति है उसमें उसके कर्ता 'जैनेन्द्रवुद्धि' के नामके साथ 'बोधिमत्वदेशीयाचार्य' नामकी ओह उपाधि लगी हुई नहीं है—ग्रन्थकी संविधानमें "इयाचार्यमध्यविरजिजैनेन्द्रवुद्धयुपगचितायां न्यास(तथा 'काशिकाविवरणन्यास')-पंचिकायां" इत्यादि रूपसे उल्लंघन पाया जाता है।

^६ देखो 'कुर्गङ्गिनिस्क्रप्शन्स' भू० ३; 'मैमूर पेशड कुर्ग' जिल्द १, पृ० २७३; 'कण्ठटकभाषाभूपूणम्' भू० पृ० १८; 'हिस्टरी आफ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २५ और 'कण्ठटककविचरिते'।

^७ मिद्दभक्तिके माथ श्रुभक्ति, चरित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, तिर्विषभक्ति तथा नन्दीश्वराशक्ति नामके मंस्त्रुन प्रकरण भी पूज्यपादके प्रभिद्वाहैं।

प्रकरण—ग्रंथ तो शिलालेखों आदिमें स्थान पाये विना ही अपने अस्तित्व एवं महत्व-को स्वतः व्यापित कर रहे हैं। ‘इष्टोपदेश’ ५१ पद्योंका एक छोटासा यथानाम तथा-गुणमें युक्त सुन्दर आध्यात्मिक ग्रंथ है और वह पं० आशाधरजीकी संस्कृतटोका-सहित माणिकचन्द्र-ग्रंथमालामें प्रकाशित भी हो चुका है। ‘सिद्धभक्ति’ ५ पद्योंका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण ‘गम्भीरार्थक’ प्रकरण है इसमें सूत्रस्थपसं मिद्धिका, मिद्धिके मार्गका, मिद्धिको प्राप्त हुए मिद्धोंका और मिद्धोंके सुखादिका अच्छा रूप बतलाया गया है। ‘सिद्धिसोपान’ ५ में यह अपने विकासके साथ प्रकाशित हुआ है।

हाँ लुप्तप्राय ग्रंथोंमें छन्द और काव्यशास्त्र-विषयक आपके दो ग्रंथोंका पता और भी श्रवणबेलगोलकं शिलालेख नं० ४० के निम्न वाक्यसे चलता है:—

‘जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थमिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणश्वसुदूरकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।
छन्दः सूक्ष्मार्धयं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदायं विदा-
मारुथातोह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

इस वाक्य में, ऊँचे दर्जेकी कुछ रचनाओंका उल्लेख करते हुए, वडे ही अच्छे ढंगसे यह प्रतिपादित किया है कि ‘जैनका जैनन्द्र’ शब्दशास्त्रमें अपने अतुलित भागको, ‘सर्वार्थमिद्धि’ (तत्त्वार्थटीका) मिद्धान्तमें परमनिपुणताको, ‘जैनाभिषेक’ ऊँचे दर्जेकी कविताको, ‘छन्दःशस्त्र’ बुद्धकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य) को और ‘समाधिशतक’ जिनकी स्वात्मरिथति (मिथतप्रज्ञता) को संसारमें विद्वानों पर प्रकट करता है वे ‘पूज्यपाद’ मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंमें पूजनीय हैं।

‘एकान्तखण्डन’ ग्रंथमें लक्ष्मीधरन, श्री पूज्यपादस्वामीका ‘पद्मदर्शनरहस्य-संवेदन-सम्पादित-निर्मामपाण्डित्य-मणिडता:’ विशेषण के अथ स्मरण करते हुए, उनके विषय में एक खाम प्रसिद्धिका उल्लेख किया है—अर्थात् यह प्रकट किया है कि उन्होंने नित्यादि सर्वं । एकान्त पञ्चकी मिद्धिमें प्रयुक्त हुए साधनोंको दृष्टिकरनेके लिये उन्हें ‘विरुद्ध’ हेत्वाभास बतलाया है; जब कि मिद्धमेनाचार्यने ‘असिद्ध’ हेत्वाभास प्रतिपादन करनेमें ही संतोष धारण किया है और स्वामी समन्तभद्रने ‘अमिद्ध-विरुद्ध’ दोनों ही रूपसे उन्हें दृष्टिन किया है। साथ ही, इसका पुष्टिमें निम्न वाक्य ‘तदुक्तं’ रूपसे दिया है:—

असिद्धं मिद्धमेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः ।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथेकान्तसाधनमिति ॥

कियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी सिद्धभक्ति-टीकामें “संस्कृताः सर्वा-भक्तयः पूज्यपादम्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः” इस वाक्यके द्वारा उन्हें पूज्यपाद-कृत बतलाया है। ये सर्व भक्तिपाठ ‘दशभक्ति’ आदिमें मुद्रित होकर प्रकाशित होचुके हैं।

* प्रस्तावना-लेखक-द्वारा लिखी हुई यह ४८ पृष्ठकी ‘सिद्धिसोपान’ पुस्तक वारसेवामन्दिर, सरसावा से विना मूल्य मिलती है।

एकांत-साधनको दूषित करनेमें तीन विद्वानोंकी प्रमिद्धिका यह श्लोक सिद्धि-विनिश्चय-टीका और न्याय-विनिश्चय-विवरणमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

**असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दनः ।
देवा समंतभद्रस्य हेतुरेकांतसाधने ॥**

न्यायविनिश्चय-विवरणमें बादिराजने इसे ‘तदुक्तं’ पदके साथ दिया है और मिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्य आचार्यने इस श्लोकको एकबार पांचवें प्रस्तावमें “यद्वद्वित्यसिद्धः सिद्धसेनस्य” इत्यादि रूपमें उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है और वहां पर इसके पर्दोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलकदेवके मिद्धिविनिश्चय ग्रंथके ‘हेतुलक्षणसिद्धि’ नामक छठे प्रस्तावका है। जब अकलकदेव जैन प्राचीन—विक्रमी सातवीं शताब्दी के—महान् आचार्यों तकने पूज्यपादकी ऐसो प्रमिद्धिका उल्लेख किया है तब यह विलकुल म्पष्ट है कि पूज्यपाद एक बहुत बड़े ताकिंक विद्वान् ही नहीं थे बल्कि उन्होंने स्वतंत्रम्परसे किसी न्याय-शास्त्रकी रचना भी की है, जिसमें नित्यादि-एकान्तवादियोंको दूषित ठहराया गया है और जो इस समय अनुपजनन्ध है अथवा जिसे हम अपने प्रमाण एवं अनोखी श्रुतभक्तिके वैश्वाखों चुकंहैं !!

सारभंग्रह

श्री‘ध्वल’ मिद्धान्तके एक उल्लेखमें यह भी पता चलता है कि पूज्यपादने ‘सारभंग्रह’ नामका भी कोई ग्रन्थ रचा है, जो नय-प्रमाण-जैसे कथनोंको भी लिये हुए है। आश्र्वय नहीं जो उनके इसी ग्रन्थमें न्याय-शास्त्रका विशद् विवेचन हो और उसके द्वारा नित्यादि-एकान्तवादियोंको दूषित ठहराया गया हो। नयके लक्षणको लिये हुए वह उल्लेख इस प्रकार है:—

**“तथा सारभंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैरनन्तपर्यात्मकस्य वस्तुनो-
ऽन्यनपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जास्थहेऽवपेक्षां निरवश्यप्रयोगो नय
इति ।”**

—‘वेदना’ खण्ड ४

ऊपरके सब अवतरणों एवं उपलब्ध ग्रन्थोंपरमें पूज्यपादस्वामीकी चतुर्मुखी प्रतिमाका स्पष्ट पता चलता है और इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि आपने उस समयके प्रायः सभी महत्वके विषयोंमें ग्रन्थोंकी रचना की है। आप असाधारण विद्वत्ताके धनी थे, सेवा-परगायणोंमें अग्रगण्य थे, महान् दार्शनिक थे, अद्वितीय वैयाकरण थे, अपूर्व वैद्य थे, धुरंधर कवि थे, बहुत बड़े तपस्वी थे, सातिशय योगी थे और पूज्य महात्मा थे। इसीसे कर्णाटकके प्रायः सभी प्राचीन कवियोंने—इसकी ८ वीं, ५ वीं, १० वीं शताव्दियोंके विद्वानोंने—अपने-अपनेग्रन्थोंमें बड़ी अद्वा-भक्तिके साथ आपका स्मरण किया है और आपकी मुक्तकंठसे खूब प्रशंसा की है।

जीवन-घटनाएँ

आपके जीवनकी अनेक घटनाएं हैं—जैसे कि १ विदेहगमन, २ घोर तपश्चर्यादिके

कारण आंखोंकी ज्योतिका नष्ट हो जाना तथा 'शान्त्यष्टक' के एकनिष्ठा एवं एकाग्रता-पूर्वक पाठसे उसकी पुनः सम्प्राप्ति, ३ देवताओंसे चरणोंका पूजा जाना ४ औपधि-शृद्धिकी उपलब्धि ५ और पादस्पृष्ट जलके प्रभावसे लोहेका लुबर्गमें परिणत हो जाना (अथवा उस लोहेसे सुवर्णका विशेष लाभ प्राप्त होना)। इनपर विशेष विचार करने तथा ऐतिहासिक प्रकाश डालनेका इस समय अवसर नहीं है। ये सब विशेष ऊहापोहके लिये यथेष्ट समय और सामग्रीकी अपेक्षा रक्षीती हैं। परन्तु इनमें असंभवता कुछ भी नहीं है—महायोगियोंके लिये ये सब कुछ शक्य हैं। जबतक कोई स्पष्ट वाधक प्रमाण उपस्थित न हो तबतक—“सर्वत्र वाधकाभावाद्वस्तुव्यवस्थिति” की नीतिकं अनुसार इन्हें माना जासकता है।

पितृकुल और गुरुकुल

पितृकुल और गुरुकुलके विचारोंको भी इस समय छोड़ा जाता है। हाँ, इतना ज़रूर कहदेना होगा कि आप मूल-मंघान्तर्गत नन्दिसंघके प्रधान आचार्य थे, मूलमी समन्तभद्रके बाद हुए हैं—श्रवणवेल्गोलके शिलालेखों (नं० ४०, १०८) में समन्तभद्रके उल्लेखानन्तर “ततः” पद देकर आपका उल्लेख किया गया है और स्वयं पूज्यपादने भी अपने ‘जैनन्द्र’ में “ततुष्टयं समन्तभद्रस्य” इस सूत्र (५-४-१६८) के द्वारा समन्तमद्रके मतका उल्लेख किया है। इससे आपका समन्तभद्रके बाद होना सुनिश्चित है। आपके एक शिष्य वञ्जनन्दीने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसंनके ‘दर्शनसार’ ग्रन्थमें पाया जाता है×। आप कर्णाटक देशके निवासी थे। कन्नड भाषामें लिखे हुए ‘पूज्यपादचरिते’ तथा ‘राजावलीकर्थ’ नामक ग्रन्थोंमें आपके पिताका नाम ‘माधवभट्ट’ तथा माताका ‘श्रीदेवी’ दिया है और आपको ब्राह्मणकुलोद्धव लिखा है। इसके सिवाय, प्रसिद्ध व्याकरणकार ‘पाणिनि’ ऋषियोंका आपका मातुल (मामा) भी बतलाया है, जो समादिकी दृष्टिसे विश्वास किये जानेके योग्य नहीं है।

समाधितंत्र-परिचय

अब मैं पूज्यपादके ग्रन्थोंमेंसे ‘समाधितंत्र’ ग्रन्थका कुछ विशेष परिचय अपने पाठकोंको देना चाहता हूँ। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है और जहाँ तक मैंने अनुभव किया है ग्रन्थकार-महोदयके अन्तिम जीवनकी कृति है—उस समयके कर्त्तव्यकी रचना है जब कि आचार्यमहोदयकी प्रवृत्ति बाह्य-विषयोंसे हटकर बहुत ज्यादा

क्यह शान्त्यष्टक “न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्” इत्यादि पद्यसे प्रारम्भ होता है और ‘दशभक्ति’ आदिके साथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अन्तिम आठवें पद्यमें “मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टि प्रसन्नां कुरु” ऐसा द्व्यर्थक वाक्य भी पाया जाता है, जो दृष्टि-प्रसन्नताकी प्रथनाको लिये हुए है।

× जैसा कि दर्शनसारकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविड़संघस्स कारगो दुट्टो ।

णामेण बज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥

पंचस। छव्वीसे विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स ।

दक्षिणमहुराजादो दाविड़संघो महामोहो ॥ २८ ॥

अन्तमुखी हो गई थी और आप मिथनप्रज्ञ-जैसी स्थितिको पहुँच गये थे। यद्यपि जैनममाजमें अध्यात्म-विषयके कितने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्राकृतभाषाके 'समयसार' जैसे महान् एवं गूढ़ ग्रंथ भी। मौजूद हैं परन्तु यह छोटा-सा संस्कृत ग्रंथ अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें थाड़े ही शब्दों द्वारा सूत्ररूपसे अपने विषयका अच्छा प्रतिपादन किया गया है; प्रतिपादन शैली बड़ी ही सरल, सुन्दर एवं हृदय-ग्राहिणी है; भाषा-सौष्ठुव देखते ही बनता है और पद्य-रचना प्रसादादि गुणोंसे विशिष्ट है। इसीसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता—ऐसा मालूम होता है कि समस्त अध्यात्मवार्णिका दोहन करके अथवा शास्त्र-समुद्रका मन्थन करके जो नवनीताऽमृत (मक्षवन) निकाला गया है वह सब इसमें भरा हुआ है और अपनी सुगन्धिसे पाठक-हृदयको-मोहित कर रहा है। इस ग्रन्थके पढ़नेसे चित्त बड़ा ही प्रफुल्लित होता है, पद-पद पर अपनी भूलका बोध होता चला जाता है, अज्ञानादि मल छँटता रहता है और दुःख-शोकादि आत्माको सन्तप्त करनेमें समर्थ नहीं होते।

इस ग्रन्थमें शुद्धात्माके वर्णनकी मुख्यता है और वह वर्णन पूज्यपादने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके बलपर भले प्रकार जाँच पड़नालेके बाद किया है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रकट है:—

**श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति ममाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीद्य केवल्यमुख्यस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥**

ग्रन्थका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे भी यह मालूम होता है कि इसमें श्री कुन्दकुन्द-जैसे प्राचीन आचार्योंके आगम-वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। कुन्दकुन्दका—

**“एगो मे सरसदो अप्पा णाणदंसणलक्ष्मणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा मद्वे संजोगलक्ष्मणा”* ॥**

यह वाक्य तो इस ग्रन्थका प्राण जान पड़ता है। ग्रन्थके कितने ही पद्य कुन्दकुन्दके 'मोक्षप्राप्तु'की गाथाओंको सामने रखकर रचे गये हैं—ऐसी कुछ गाथाएँ पद्य नं० ४, ५, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, १०२ के नीचे फुटनोटोंमें उद्धृत भी करदी गई हैं, उन परसे इस विषयका सत्यताका हरपक पाठक सहज हा० में अनुभवकर सकता है। यहां पर उनमेंसे दो गाथाएँ और एक गाथा नियमसारकी भी इस ग्रंथके पद्यों सहित नमूनेके तौर पर उद्धृत की जाती है:—

* यह गाथा नियमसारमें नं० १०२ पर और मोक्षप्राप्तमें नं० ५९ पर पाई जाती है। इसमें यह बतताया है कि—‘मेरा आत्मा एक है—बालिस है, उसमें किसी दूसरे का मिश्रण नहीं—शाश्वत है—, कभी नष्ट होने बाला नहीं—और ज्ञान-दर्शन-लक्षणवाला (ज्ञाता-द्रष्टा) है; शेष संयोग-लक्षणवाले समस्त पदार्थ मेरे आत्मा से वाह्य हैं—वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ।’

जं मया दिसदे रुचं तण्ण जाणादि सच्चहा ।
जाणगं दिसदे णं तं तमहा जंपेमि केण हं ॥२६॥

—मोक्षप्राभृत

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

—समाधितंत्र

जो सुत्तो बबहारे सो जोई जगगए सकज्जम्मि ।
जो जगगदि बबहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

—मोक्षप्राभृत

व्यवहारे सुषुप्तो यः म जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥

—समाधितंत्र

णियभावं ण वि मुच्छइ परभावं ऐव गेएहइ केइं ।
जाणदि पस्सदि सच्चं सोहं इदि चिंतए णाणा ॥६७॥

—नियमसार

यद्ग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तस्वसर्वेवामस्म्यहम् ॥२०॥

—समाधितंत्र

इससे उक्त पंच नं० ३ में प्रयुक्त हुआ ‘श्रुतेन’ पद बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। ‘लिङ्गेन’ तथा ‘समाहितान्तः करणेन’ पद भी ऐसे ही सार्थक हैं। यदि श्रीकुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा नं० ४३८ से ४४४ तक के कथनकी इस ग्रंथके पद्म नं० ८७,८८ के साथ तुलना की जाय तो पृज्यपादकी विशेषताके साथ उनके युक्ति-पुरस्सर तथा स्वानुभवपूर्वक कथनका कितना ही सुन्दर आभास मिल सकता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में ऐसी कोई भी वात कही गई मालूम नहीं होती जो युक्ति, आगम तथा स्वानुभवके विरुद्ध हो। और इस लिये यह ग्रन्थ बहुत ही प्रामाणिक है। इसोंसे उत्तरवर्ती आचार्योंने इसे खूब अपनाया है—परमात्मप्रकाश और ज्ञानार्णव—जैसे ग्रंथोंमें इसका खुना अनुसरण किया गया है, जिसके कुछ नमूने इस ग्रंथके फुटनोटोंमें दिखाये गये हैं।

चूँकि ग्रन्थमें शुद्धात्मके कथनकी प्रधानता है और शुद्धात्माको समझनेके लिये अशुद्धात्माको जाननेकी भी ज़रूरत होती है, इसीसे ग्रन्थमें आत्माके वहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तान भेद करके उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही, परमात्माको उपादेय आराध्य), अन्तरात्माको उपायरूप आराधक और वहिरात्माको हेय त्याज्य) ठहराया है। इन तीनों श्रात्म-भेदोंका स्वरूप समझानेके

लिये प्रथमे जो कलापूर्ण तरीका अखिलयार किया गया है वह बड़ा ही सुन्दर एवं स्तुत्य है और उसके लिये प्रन्थको देखते ही बनता है। यहां पर मैं अपने पाठकोंको मिर्फ उन पदोंका ही परिचय करा देना चाहता हूं जो बहिरात्मादिका नामोल्लेख अथवा निर्देश करनेके लिये प्रन्थमे प्रयुक्त किये गये हैं और जिनसे विभिन्न आत्माओंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेसे सहज हीमें अवगत होजाता है। इन पदोंमेंसे कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका मूलप्रयोग द्वितीयादि विभक्तियों तथा बहुवचनादिके रूपमें हुआ है परन्तु अर्थात्वबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे उन्हें यहां प्रथमाके एकवचनमें ही रख दिया गया है। अस्तु; बहिरात्मादि-निदर्शक वे पद्य क्रमशः निम्न प्रवार हैं। उनके स्थान-सूचक-पदाङ्क भी साथमें दिये जाते हैं :—

(१) बहिरात्म-निदर्शक पद—

बहिः ४; बहिरात्मा ५, ७, २७; शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः ५; आत्मज्ञानपराङ्-मुखः ७; अविद्वान् ८; मृढः १०,४४,४५; अविदितात्मा ११; देहे स्ववुद्धिः १३; मृढात्मा २९,५६,५८,६०; उत्पन्नात्ममत्तर्देहे ४२; परत्राहस्मतिः ४३; देहात्मदृष्टिः ४५, ४४; अविद्यामयस्त्वः ५३; वाक्शरीरयोः भ्रान्तः ५४; बालः ५५; पिहितज्योतिः ६०; अवुद्धिः ६१, ६९; शरीरकंचुकेन संवृतज्ञानविग्रहः ६८; अनात्मदर्शी ७२, ९३; दृढात्मवुद्धिदेहादौ ७६; आत्मगोचरं सुपुष्टः ७८; मोही ९०; अनन्तरज्ञः ९१,-अक्षीणदोषः-मर्वावस्थाऽन्तमदर्शी ९३; जडः १०४ ।

(२) अन्तरात्म-निदर्शक पद—

अन्तः ४, १५, ६०; आन्तरः ५; चिन्तदोषाऽन्तमविभ्रान्तिः ५; स्वात्म-न्येवात्मधीः १३; बहिरव्याप्तुनेन्द्रियः १५; देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः २८; अन्तरात्मा २७, ३०; तत्त्वज्ञानी ४८; स्वस्मिन्नहस्मतिः ४३; बुधः ४३, ६३-६६; आत्मदेहान्त-ज्ञानजनिताल्लादनिर्वृतः ३४; अबुद्धः ४४; आत्मविन् ४७; स्वात्मन्येवात्मदृष्टिः ४५,-नियन्तन्द्रियः ५१; आरव्यवयोगः-भावितात्मा ५२; वाक्शरीरयोरभ्रान्तः ५४; आत्म-तत्त्वे व्यवस्थितः ५७; प्रबुद्धात्मा ६०; वाहव्यावृत्तकौतुकः ६०; दृष्टात्मा ७२, ९२; आत्मन्येवात्मधीः ७७; व्यवहारे सुपुष्टः ७८; दृष्टात्मनत्त्वः—वभ्यस्तात्मधीः ८०; मोक्षार्थी ८२, योगी ८६, १००; दृष्टभद्रः ९२; आत्मदर्शी ९३; ज्ञातात्मा ९४; मुनिः १०२; विद्वान् १०४; परात्मनिष्ठः १०५ ।

(३) परमात्म-निदर्शक पद—

अक्षयानन्तवोधः १, सिद्धात्मा १; अनीहिना-तीर्थकृत् २; शिवः-धौता-सुगतः-विष्णुः २; जिनः २, ६; विविक्तात्मा ३, ७२; परः ४, ८६, ९५; परमः ४, २१, ९८; परमात्मा ५, ६, १७, २७, ३०; अतिनिर्मलः ५; निर्मलः-केवलः-शुद्धः-विविक्तः-प्रभुः-परमेष्ठी-परात्मा-इश्वरः ६; अठयः ६, ३२; अनन्तानन्तधीशक्तिः-अवलस्थितिः ५, स्वसंवेदः ५, २०, २४; निर्विकल्पकः १५; अतीनिद्रियः-अनिर्देश्यः २२; बोधात्मा २५, ३२; सर्वसंकल्पवर्जितः २७; परमानन्दनिर्वृतः ३२; स्वस्थात्मा ३५; उत्तमः कायः ४०; निष्ठितात्मा ४७; सानंदज्योतिहृत्तमः ५१; विद्यामयरूपः ५३; केवलज्ञसिविग्रहः ७०;

अन्युनः ७९; परमं पदमात्मनः ८४, ८९, १०४; परं पदं ८५; परात्मज्ञानमपन्नः ८६; अवाचां गोचरं पदं ९९।

यह त्रिधात्मक—पदावली त्रिधात्माके स्वरूपको व्यक्त करनेके लिये कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं—महाय पाठक महज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि एक छोटेसे ग्रन्थमें एक ही आत्मविषयको स्पष्ट करनेके लिये इतने अधिक विभिन्न शब्दोंका ऐसे अन्धे ढंगसे प्रयोग किया जाना, निःसंदेह, साहित्यकी हष्टिसे भी कुछ कम महत्वकी चीज़ नहीं है। इससे प्रथकार महोदयके रचना-चारुर्य अथवा शब्द-प्रयोग-कौशल्यका भी कितना ही पता चल जाता है।

समाधितंत्रमें और क्या कुछ विशेष वर्णन है उस सबका संक्षिप्त परिचय ग्रन्थके साथमें दी हुई विषयानुक्रमणिकाको देखनेसे महजमें ही मालूम हो सकता है। वहाँ पर कोष्ठकमें मूल श्लोकोंके नम्बर भी दे दिये हैं। यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति करके प्रस्तावनाके कलेवरको बढ़ानेकी ज़रूरत मालूम नहीं होती। और न ग्रन्थ-विषयका दूसरे तत्सम ग्रन्थोंके साथ तुलनाका अपनेको यथेष्ट अवकाश ही प्राप्त है, अतः जो तुलना ऊपर की जा चुकी है उसीपर सन्तोष रखने हुए शेषको छोड़ा जाता है।

ग्रन्थनाम और पद्यसंख्या

यह ग्रन्थ १०५ पदोंका है, जिनमेंसे दूसरा पद्य ‘वशम्य’ दृतमें, तीसरा ‘उपेन्द्रवज्रा’ में, अन्तिम पद्य ‘वसंततिलका’ छन्दमें और शेष सब ‘अनुष्टुप् छन्दमें है। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए, ग्रन्थका नाम ‘समाधितंत्र’ दिया है और उसे उस ज्योतिर्मय कैवल्य सुखकी प्राप्तिका उपायभूत-मार्ग बतलाया है जिसके अभिलाषियोंको लक्ष्य करके ही यह ग्रन्थ लिखा गया है और जिसकी मूलना प्रनिन्द्रिय-वाक्य (पद्य नं० ३) में प्रयुक्त हुए “कैवल्यसुखस्पृहाणाम्” पद्के द्वारा की गई है। साथ ही, ग्रन्थ-प्रतिपादित उपायका संक्षिप्त-रूपमें दिग्दर्शन करते हुए ग्रन्थके अध्ययन एवं अनुकूल वर्तनका फल भी प्रकट किया गया है। वह अन्तिम सूत्र-वाक्य इस प्रकार है:—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च संमारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्

॥ १०५ ॥

प्रायः १०० श्लोकोंका होनेके कारण टीकाकार प्रभाचंद्रने इस ग्रन्थको अपनी टीकामें ‘समाधिशतक’ नाम दिया है और तबसे यह ‘समाधिशतक’ नामसे भी अधिकतर उल्लेखित किया जाता है अथवा लोकपरिचयमें आरहा है।

मेरे इस कथनको ‘जैनसिद्धान्त भास्कर’ में—‘श्री पूज्यपाद और उनका समाधितंत्रकृ०’ शीर्षकके नीचे—देखकर डाक्टर परशुराम लक्ष्मण (बी० एल०) वैद्य, एम० ए० प्रोफेसर वाडियाकालिज पूनाने, हालमें प्रकाशित ‘समाधिशतक’के मराठी संस्करणकी अपनी प्रस्तावनामें, उसपर कुछ आपत्ति की है। आपकी रायमें ग्रन्थका असली नाम

झ यह लेख ‘जैनसिद्धान्त भास्कर’ के पांचवें भागकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

‘समाधिशतक’ और उसकी पद्यसंख्या १०० या ज्यादासे ज्यादा १०१ है। आप पद्य नं० २, ३, १०३, १०४ को तो ‘निश्चितरूपसे (खात्रानें) प्रक्षिप्त’ बतलाने हैं और १०५ को ‘बहुधा प्रक्षिप्त’ समझते हैं। ‘बहुधा प्रक्षिप्त’ समझनका अभिप्राय है उभकी प्रक्षिप्ततामें संदेहका होना—अर्थात् वह प्रक्षिप्त नहीं भी हो सकता है। जब पद्य नं० १०५ का प्रक्षिप्त होना संदिग्ध है तब प्रथका नाम ‘समाधिशतक’ होना भी संदिग्ध हो जाता है; क्योंकि उक्त पद्यपरमें प्रथका नाम समाधितंत्र ही पाया जाता है, इसे डाक्टर साहबने स्वयं स्वीकार किया है। अस्तु ।

जिन्हें निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त बतलाया गया है उनमेंसे पद्य नं० २, ३ की प्रक्षिप्तताके निश्चयका कारण है उनका छन्दभेद ये दोनों पद्य ग्रन्थके साधारण वृत्त अनुष्टुप् छन्दमें न लिखे जाकर क्रमशः ‘वंशस्थ’ तथा ‘उपेन्द्रवज्ञा’ छन्दोंमें लिखे गये हैं क। डाक्टर साहबका ख्याल है कि अनुष्टुप् छन्दमें अपने ग्रन्थको प्रारम्भ करने वाला और आगे प्रायः सारा ग्रन्थ उसी छन्दमें लिखने वाला कोई ग्रन्थकार बीचमें और खासकर प्रारम्भिक पद्यके बाद ही दूसरे छन्दकी योजना करके ‘प्रक्रमभंग’ नहीं करेगा। परन्तु ऐसा कोई नियम अर्थवा रूप नहीं है जिसमें ग्रन्थकार की इच्छापर इस प्रकारका कोई नियंत्रण लगाया जासके। अनेक ग्रन्थ उसके अपवाद-स्वरूप भी देखनेमें आते हैं। उड़ाहरणके लिये महान् ग्रंथकार भट्टाकलंकदेवके ‘लघोयस्त्रय’ और ‘न्यायविनिश्चय’ जैसे कुछ ग्रंथोंको प्रमाणमें पेश किया जा सकता है जिनका पहला पद्य अनुष्टुप् छन्द में है और जो प्रायः अनुष्टुप् छन्दमें ही लिखे गये हैं परन्तु उनमें प्रत्येकका दूसरा पद्य ‘शादूलविक्रांडित’ छन्दमें है और वह करटकशुद्धिको लिये हुए ग्रंथका खास अंगम्बरूप है। ‘सिद्धिविनिश्चय’ ग्रंथमें भी इसी पद्धतिका अनुपरण पाया जाता है। ऐसा हालतमें छन्दभेदके कारण उक्त दोनों पद्योंको प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता ।

ग्रंथके प्रथम पद्यमें निष्कलात्मरूप सिद्धपरमात्माको और दूसरे पद्यमें सकलात्मरूप अर्हतपरमात्माको नमस्काररूप सगलाचरण किया गया है—परमात्मा के ये ही दो मुख्य अवस्थाभेद हैं, जिन्हें इष्ट समझकर स्मरण करते हुए यहां थोड़ा-सा व्यक्त भी किया गया है। इन दोनों पद्योंमें ग्रंथ-रचना-सम्बन्धों कोई प्रतिज्ञा वाक्य नहीं है—ग्रंथके अभिधेय-सम्बन्ध-प्रयोजनादि को व्यक्त करता हुआ वह प्रतिज्ञावाक्य पद्य नं० ३ में दिया है; जैसाकि ऊपर उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। और इसलिये शुरूके ये तीनों पद्य परम्परमें बहुत ही सुसम्बद्ध हैं—उनमेंसे दो के प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना करना, उन्हें टीकाकार प्रभाचन्द्रके पद्य बतलाना और उनकी व्यवस्थित टीकाको किसीका टिप्पण कह कर यों ही ग्रंथमें घुसड़ जानेकी बात करना चिल्कुल ही निराधार जान पड़ता है। डा० साहब प्रथम पद्यमें प्रयुक्त हुए “अक्षया-नन्तवोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः” (उस अक्षय-अनन्तवोधम्बरूप परमात्माको नमस्कार) इस वाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यमें निर्दिष्ट हुए ग्रंथके प्रयोजनको

क्षे डाक्टर साहबने द्वितीय पद्यको ‘उपेन्द्र वज्ञा’ में और तृतीयको ‘वंशस्थ’ वृत्तमें लिखा है, यह लिखना आपका छन्दशास्त्रकी हष्टिसे गलत है और किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है ।

अप्रस्तुत-स्थलका (बेसौका) बतलाते हुए उसे अनावश्यक तथा पुनरुक्त तक प्रकट करते हैं; जबकि अप्रस्तुत-स्थलता और पुनरुक्तताको वहां कोई गंध भी मालूम नहीं होती; परन्तु टीकाके मंगलाचरण-पद्ममें प्रयुक्त हुए “वद्ये समाधिशतकं” (मैं समाधिशतक की व्याख्या करता हूँ) इस प्रतिज्ञावाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्मको टीकाकारका बतलाकर उसमें प्रयुक्त हुए प्रतिज्ञावाक्यको प्रस्तुत-स्थलका, आवश्यक और अपुनरुक्त समझते हैं, तथा दूसरे पद्मको भी टीकाकारका बतलाकर प्रतिज्ञाके अनन्तर पुनः मंगलाचरणको उपयुक्त समझते हैं, यह सब अजीव-सी ही बात जान पड़ती है ! मालूम होता है आपने इन प्रभाचन्द्रके किसी दूसरे टीकाप्रथके साथ इस टीका की तुलना नहीं की, यदि रत्नकरणडश्रावकाचारकी टीकाके साथ ही इस टीकाकी तुलना की होती तो आपको टीकाकारके मंगलाचरणादि-विषयक टाइप-का—लेखनशैलीका—कितना ही पता चल गया होता और यह मालूम होगया होता कि यह टीकाकार अपनी ऐसी टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरण न । प्रतिज्ञा का एक ही पद्म देते हैं, और इसी तरह टीकाके अन्तमें उपमंहार आदिका भी प्रायः एक ही पद्म रखते हैं, और तब आपको मूलग्रन्थके उक्त दोनों पद्मों (न० २, ३, को बलात् टीकाकारका बतलानेकी नौबत ही न आती ।

हां, एक बात यहां और भी प्रकट करदेनेकी है और वह यह कि डा० साहव जब यह लिखते हैं कि “पूज्यपादानीं हा विषय आगम, युक्ति, आणि अंतःकरणाका एकाप्रता कर्त्तव्यांगे स्वानुभवसंपन्न होऊन त्याच्या आधारे स्पष्ट आणि सुलभरीतीने प्रतिपादला आहे” तब इस बातको भुलादेते हैं कि यह आगम, युक्ति और अंतःकरणकी एकाप्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके आधारपर ग्रंथ रचनेकी बात पूज्यपादने ग्रंथके तीसरे पद्ममें ही तो प्रकट की है—वहांसे तो वह उपलब्ध होती है—‘फिर उस पद्मको मूलग्रन्थका माननेसे क्यों इनकार किया जाता है ?’ और यदि यह बात उनकी खुदकी जांच-पड़ताल तथा अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हुई होती तो वे आगे चल कर कुछ तत्सम ग्रन्थोंकी सामान्य तुलनाका उल्लेख करते हुए, यह न लिखते कि ‘उपनिषद् ग्रंथके कथनको यदि छोड़ दिया जाय तो परमात्मस्वरूपका तीन परमरूप वर्णन पूज्यपादने ही प्रथम किया है ऐसा कहनेमें कोई हरकत नहीं’ । क्योंकि पूज्यपादसे पहलेके प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (मोक्षपादुड) ग्रन्थमें त्रिवात्माका बहुत स्पष्टरूपसे वर्णन पाया जाता है ; और पूज्यपादने उसे प्रायः उसी ग्रन्थपरसे लिया है ; जैसा कि नमूनके तौरपर दोनों ग्रन्थोंके निम्न दो पद्मोंकी तुलनासे प्रकट है और जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि समाधितंत्रका पद्म मोक्षप्राभृतकी गाथाका प्रायः अनुवाद है :—

तिप्यारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं ।

तस्थ परो भाइजज्ञ अंतोवाणेण चयदि बहिरप्पा ॥—मोक्षप्रा०

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्वयहिस्यजेत् ॥—समाधितंत्रम्

मालूम होता है मैंने अपने उक्त लेखमें ग्रन्थाधारकी जिस बातका उल्लेख करके प्रमाणमें ग्रंथके पद्म न० २ को उद्धृत किया था और जो ऊपर इस प्रस्तावनामें

भी पद्य नं० ३ के साथ ज्यों का त्यों दी हुई है उसे डाक्टर साहबने अनुवादरूपमें अपना तो लिया परन्तु उन्हें यह स्वयाल नहीं आया कि ऐसा करनेमें उनके उस मन्त्रयका स्वयं विरोध हो जाता है जिसके अनुसार पद्य नं० ३ को निश्चितरूपसे प्राप्ति कहा गया है। अस्तु ।

अब रही पद्य नं० १०३, १०४ की बात, इनकी प्रक्रियताका कारण डा० साहब ग्रन्थके विषय और पूर्वपद्योंके साथ इनके प्रतिपाद्य-विषयकी असम्बद्धता बतलानेहै—लिखते हैं “या दोन श्लोकान्या प्रतिपाद्य विषयांशी व पूर्व श्लोकांशी काहीं च संवंध दिसत नाहीं”। साथ ही, यह भी प्रकट करते हैं कि ये दोनों श्लोक कव, क्यों और कैसे इस ग्रन्थमें प्रतिष्ठि (प्राप्ति) हुए हैं उसे बतलानेके लिये वे असमर्थ हैं। पिछली बातके अभावमें इन पद्योंकी प्रक्रियताका दावा बहुत कमज़ोर हो जाता है; क्योंकि असम्बद्धताकी ऐसी कोई भी बात इनमें देखनेको नहीं मिलती। टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने प्रस्तावना वाक्योंके द्वारा ग्रन्थके विषय तथा पूर्व पद्योंके साथ इनके सम्बन्धको भले प्रकार घोषित किया है। वे प्रस्तावनावाक्य अपने अपने पद्यके माथ इस प्रकार है—

“ननु यज्ञात्मा शरीरगत्सर्वथा भिन्नमतदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्छ्लेष् निष्ठिति तिष्टेदिति बदन्तं प्रत्याह—”

प्रयस्नादात्मनो वायुरिच्छादेषप्रवर्तितात् ।

वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

“तेषां शरीरयन्त्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपी कृत्वा जडविवेकिनां किं कुर्वत इत्याह—”

तान्यात्मनि समारोप्य माज्जाएयास्ते सुखं जडः ।

स्यकृत्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परम पदम् ॥ १०४ ॥

इन प्रस्तावनावाक्योंके साथ प्रस्तावित पद्योंके अर्थको साथमें देखकर कोई भी सावधान व्याकृत यह नहीं कह सकता कि इनका ग्रन्थके विषय तथा पूर्वपद्योंके साथ कोई संवंध नहीं है—जिस मूल विषयको ग्रन्थमें अनेक प्रकारमें पुनः पुनः स्पष्ट किया गया है और उसमें पुनरुक्तता-जैसा भी कोई बात नहीं है। इसके मिवाय, उपसंहारपद्यके पूर्व ग्रन्थके विषयको समाप्ति भी “अदुःखभावित” नामकं भावनात्मक पद्य नं० १०२ का अपेक्षा पद्य नं० १०४ के साथ ठीक जान पड़ती है, जिसके अन्तमें साध्यकी सिद्धिरुपे उल्लेखरूप “प्राप्नोति परमं पदम्” वाक्य पड़ा हुआ है और जो इस ग्रन्थके मुख्य प्रयोजन अथवा आत्माके अन्तिम ध्येयको रपष्ट करता हुआ विषयको समाप्त करता है।

अब मैं पद्य नं० १०५ को भी लेता हूँ, जिसे डाक्टर साहबने सन्देह-कोटिमें रखा है। यह पद्य संदिग्ध नहीं है; बल्कि मूलग्रन्थका अन्तिम उपसंहार-पद्य है; जैसा कि मैंने इस प्रकरणके शुरूमें प्रकट किया है। पूज्यपादके दूसरे ग्रन्थोंमें भी, जिनका प्रारम्भ अनुप्रुप् छन्दके पद्यों- द्वारा होता है, ऐसे ही उपसंहार-पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थ-कथित विषयका संचेपमें उल्लेख करते हुए ग्रन्थका नामादिक

भी दिया हुआ है। नमूने के तौर पर 'इष्टोपदेश' और 'सवार्थसिद्धि' ग्रन्थोंके दो उपसंमहार-पद्योंको नीचे उद्धृत किया जाता है :—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानाऽपमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवशन्मजने बने वा
मुक्तिश्रियं निरूपमासुपथानि भव्यः ॥—इष्टोपदेशः ।
स्वर्गाऽपवर्गसुखमाप्नुमनोभिरायै—
जैनेन्द्रशासनवरामृतमारभूता ।
सवार्थमिद्विरिति मद्विरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या—सवार्थमिद्विः ।

इन पद्योंपरसे पाठकोंको यह जानकर आश्र्य होगा कि ये दोनों पद्य भी उसी 'वसन्ततिलका' छन्दमें लिखे गये हैं जिसमें कि समाधितंत्रका उक्त उपसंमहार-पद्य पाया जाता है। तीनों ग्रन्थोंके ये तीनों पद्य एक ही टाइपके हैं और वे अपने एक ही आचार्य-द्वारा रचे जाने की स्पष्ट घोषणा करते हैं। इसलिये समाधितंत्रका पद्य नं० १०५ पृज्यपादकृत ही है, इसमें सन्देहको ज्ञान भी स्थान नहीं है।

जब पद्य नं० १०५ असिन्द्रधरूपसं पूज्यपादकृत है तब ग्रन्थका असली मूल नाम भी समाधितंत्र ही है; क्योंकि इसी नामका उक्त पद्यमें निर्देश है, जिसे डा० साहबने भी स्वयं स्वीकार किया है। और इसलिये 'समाधिशतक' नामकी कल्पना बाद की है—उसका अधिक प्रचार टीकाकार प्रभाचन्द्रके बाद ही हुआ है। श्रवणबेलगोलके जिस शिलालेख नं० ४० में इस नामका उल्लेख आया है वह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका है और टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय भी विक्रमकी १३ वीं शताब्दी है।

इस तरह इस ग्रन्थका मूलनाम 'समाधितंत्र' उत्तरनाम या उपनाम 'समाधिशतक' है और इसकी पद्य संख्या १०५ है—उसमें पाँच पद्योंके प्रक्षिप्त होनेकी जो कल्पना की जाती है वह निरो निर्मूल और निराधार है। ग्रन्थकी हस्तलिखित मूल प्रतियोंमें भी यही १०५ पद्यसंख्या पाई जाती है। देहली आदिके अनेक भण्डारोंमें मुझे इस मूलग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेका अवसर मिला है—देहली सेठके कूचेके मन्दिरमें तो एक जीर्ण-शीर्ण प्रति कईसौ वर्षकी पुरानी लिखी हुई जान पड़ती है। जैनसिद्धान्त भवन आराके अध्यक्ष पं० के० भुजवलीजी शास्त्री में दर्यापत करने पर भी यही मालूम हुआ कि वहां ताडपत्रादि पर जितनी भी मूलप्रतियां है उन सबमें इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या १०५ ही दी है। और इसलिये डा० साहबका यह लिखना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस टीका से रहित मूल-ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध नहीं हैं।'

ऐसा मालूम होता है कि 'शतक' नाम परसे डा० साहबको ग्रन्थमें १०० पद्योंके होनेकी कल्पना उत्पन्न हुई है और उसी परसे उन्होंने उक्त पाँच पद्योंको प्रक्षिप्त करार देनेके लिये अपनी बुद्धिका व्यापार किया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता;

क्योंकि शतक ग्रन्थके लिये ऐसा नियम नहीं है कि उसमें पूरे १०० ही पद्य हों, प्रायः १०० पद्य होने चाहिये—दो, चार, दस पद्य उपर भी हो सकते हैं। उदाहरणके लिये भर्तुहरि-तीतिशतकमें ११०, वैराग्यशतकमें ११३, भूवर-जैनशतकमें १०७, ध्यानशतकमें १०५ और श्रीसमन्तभट्टके जिनशत हमें ११६ पद्य पाये जाते हैं। अतः ग्रन्थका उत्तर नाम या उच्चार 'समाधिशतक' होने हुए भी उसमें १०५ पद्योंका होना कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

टीकाकार प्रभाचन्द्र

इस ग्रन्थके साथमें जो संरक्षित टीका प्रकाशित होरही है, उसके रचयिता 'प्रभाचन्द्र' हैं। अन्तिम पुष्पिकामें प्रभाचन्द्रको 'पणिडत प्रभाचन्द्र' लिखा है; परन्तु इसमें उन्हें कोई गुहस्थ पणिडत न समझ लेना चाहिये। टीका-प्रशस्तिमें 'प्रभन्दु' के लिये प्रयुक्त हुए 'प्रभु' आदि विशेषणोंमें यह साफ जाना जाता है कि वे कोई आचार्य अथवा भट्टारक थे। अविद्वान् भट्टारकोंसे व्यायुति करानेके लिये वादको अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भट्टारकोंके नामके साथ 'पणिडत' विशेषण लगाया जाने लगा था; जैसा कि आजकल म्यानकवासी समाजमें जो मुनि अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् मिलते हैं उन्हें 'पणिडतमुनि' लिखा जाने लगा है। टीकाप्रशस्ति अथवा टीकाके उपसंहार-पद्ममें टीकाकार प्रभाचन्द्रका न तो कोई विशेष परिचय है और न टीकाके बननेका समय ही दिया है। टीकाकारने कर्ता पर अपने गुरुका नामो-ल्लेख तक भी नहीं किया है। और जैनममाज में 'प्रभाचन्द्र' नामके वीमियों मुनि, आचार्य तथा भट्टारक होगये हैं, जिनमें से बहुतोंका संश्लिष्ट परिचय मैंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अपनी उस प्रस्तावनामें दिया है जो साणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकट होनेवाली सटीक रत्नकरण्डश्रावकाचारके साथ प्रकाशित हुई है। ऐसा हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई है और कब वर्ती है, इस प्रभका उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जहाँ तक मैंने इस प्रश्नपर विचार किया है मुझे इस विषयमें कोई संदेह मालूम नहीं होता कि यह टीका उन्हीं प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है जो कि रत्न-करण्डश्रावकाचारकी टीकाके कर्ता हैं। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मिलान किया जाता है तब दोनोंमें वहुत बड़ा साहश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादन-शैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक-जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिए हुए हैं। दोनोंके आदि-अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लंखन-पद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस साहश्यका अनुभव करानेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं :—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं :—

समन्तभट्टं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विवुद्धेन्द्रवंशम् ।
संसारसागरसमुक्तरणप्रयोगं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥
—समाधितत्रटीका

ये दोनों पद्य इष्टदेवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं,
दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकर्ताङ्क और मूलग्रन्थको भी स्तुतिका विषय बनाया गया
है और उनके अप्रतिमप्रबोध-निखिलात्मबोधनं तथा निर्वाणमार्ग--अखिलकर्म-
शोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अथवी हास्तिसे, परम्पर मिलते जुलते हैं ।

(२) मंगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरणडकप्रख्यं
सम्यग्दशनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरणडकाख्यं शास्त्रं
कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्यादिकं फलमभिलषन्निष्ठ-
देवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह । —रत्नकरणडकटीका

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षुणां मोक्षोपायं मांक्षस्वरूपं चोपदर्शी
गितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्यादिकं फलमभिलष-
न्निष्ठदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनामेत्याह । —समाधितत्रटीका

(३) दोनों टीकाओंमें अपने ग्रन्थके प्रथम पद्यका माराँश इस प्रकार दिया है—

“अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञ-
तोक्ता ।” —रत्नकरणडकटीका

“अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः, उत्तरार्द्धेन च मांक्षस्वरूपमुप-
दर्शितम् ।” —समाधितत्रटीका

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढंग और शब्दविन्यास एक-
जैसा है ।

(४) दोनों टीकाओंमें ‘परमेष्ठी’ पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही
जैसी है । यथा—

परमे इन्द्रादीनां वंशे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी ।

—रत्नकरणडकटीका

परमे इन्द्रादिवंशे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः ।

—समाधितत्रटीका

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

क्षेपहले पद्यमें ‘जिनेन्द्र’ पदके द्वारा ग्रन्थकर्ताका नामोल्लेख किया गया है;
क्योंकि पूज्यपादका ‘जिनेन्द्र’ अथवा ‘जिनेन्द्रबुद्धि’ भी नामान्तर है और ‘विवुद्धे-
न्द्रवंश’ पद पूज्यपाद नामका भी योतक है ।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतो गतं
सम्यज्ञानतहांशुभिः प्रकटितः मागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरणडकामलरविः संसृतसरिच्छोषको
र्जीयादेष समन्वयभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः ॥

—रत्नकरणडकटीका

येनात्मा बहिरन्तमत्तमभिधा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्यामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः ।
र्जीयात्मोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥

—समाधितंत्रटीका

इन दोनों पद्मोमें, अपने अपने ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रन्थकार (श्रीपादपूज्य, समन्वयभद्रमुनि), ग्रन्थ (समाधि-शतक, रत्नकरणडक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचन्द्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें विल्कुल एक ही है, दोनों की प्रतिपादन-शैली अथवा लंबन-पद्धतिमें जरा भी भेद नहीं है, छंद भी दोनोंका एक हा है और दोनोंमें ‘येन, जिनः श्रीमान्, प्रभेन्दुः, सः, र्जीयान्’ पदोंका जो एकता और ‘कीर्तिः, प्रकटितः’ आदि पदोंके प्रयोगकी जो समाजता पाइ जाती है, वह मूल पद्मोपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई ज़रूरत नहीं है ।

रत्नकरणडश्रावकाचारकी टीका विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई है, यह बात मैं ने रत्नकरणडश्रावकाचारकी अपनी उक्त प्रस्तावनामें सिद्ध की है, और इस लिये समाधितंत्रकी यह टीका भी प्रायः विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी ही जान पड़ती है ।

वीर-स्तेवा-मन्दिर, भरसावा }
ता० २-२-१६३६ }

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रस्तावना की कुछ अशुद्धियाँ

प्रथम पृष्ठकी १० वीं पंक्तिमें ‘श्रीपूज्यपादो’की जगह ‘श्रीथूज्यपादो’, द्वितीय पृष्ठ के फुटनोटमें ‘काशकृतस्ना’की जगह ‘काशकृत्स्ना’, ‘जयन्त्यष्टादि’के स्थानपर ‘जयन्त्यष्टौ च’ और ‘कविकल्पद्रेष्मः’की जगह ‘धातुपाठः’ गलत छप गया है । इसी तरह पृ० ३की १८ वीं पंक्तिमें ‘कवेः’की जगह ‘कवेः’, पृ० ८की २४ वीं पंक्तिमें ‘सर्वथा’की जगह ‘सर्व ।’, पृ० ११के फुट नोटमें ‘भावप्राभूत’की जगह ‘मोक्षप्राभूत’, पृ० १३की २८वीं पंक्तिमें ‘आत्मदेहान्तर’की जगह ‘आत्मदेहान्त’ और पृ० १६की ३७ वीं पंक्तिमें ‘उद्घृत’के स्थानपर ‘उद्धृत’ अशुद्ध छप गया है । पाठकजन इन अशुद्धियोंको सुधार लेवें ।

समाधितंत्रकी विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सिद्धात्मा और सकलात्माको नमस्कार- रूप मंगलाचरण (१,२) ...	१	आत्मस्वरूप-विचार (२४)	२९
विषय तथा आधारको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा (३) ...	६	आत्मानुभवीका शत्रु-मित्र-विचार (२५, २६) ...	३०
आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद और उनकी हेयोपादेयता (४) ...	८	परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय (२७)	३२
बहिरात्मादिका जुड़ा जुड़ा लक्षण (५) १०		परमात्मपदकी भावनाका फल (२८)	३३
परमात्माके वाचक कुक्ष नाम (६) १२		भय और अभयके स्थान (२९) ३४	
बहिरात्मा के शरीर में आत्मत्वबुद्धि होने का कारण (७) ...	१३	आत्मज्ञानकी प्राप्तिका उपाय (३०,३१,३२) ३५	
चतुर्गति-सम्बन्धी शरीरभेदसे जीवभेदकी मान्यता (८,९) ...	१४	आत्मज्ञानके विना तपश्चरण व्यर्थ— मुक्ति नहीं हो सकती (३३) ...	३७
बहिरात्माकी अन्यशरीर-विषयक मान्यता (१०) ...	१६	आत्मज्ञानीको तपश्चरणसे खेद नहीं होता (३४) ...	३८
शरीर में आत्मत्व-बुद्धिका परिणाम (११,१२) ...	१७	खेद करनेवाला आत्मज्ञानी नहीं—निश्चल मन प्राणी ही आत्मदर्शी होता है (३५) ३९	
बहिरात्मा और अन्तरात्माका कर्तव्यभेद (१३) ...	१९	आत्मतत्त्व और आत्मध्रातिका स्वरूप और उसमें त्याग-ग्रहण (३६) ४०	
शरीरमें आत्मत्वबुद्धिपर खेद (१४) २०		मनके विश्विस तथा अविश्विस होनेका कारण (३७)	४१
शरीरसे आत्मत्वबुद्धि छोड़ने और अन्तरात्मा होने की प्रेरणा (१५) २१		चित्तके विश्विस-अविश्विस होनेका वास्त- विक फल (३८) ...	४२
अन्तरात्माका अपनी पूर्व अवस्थापर खेदप्रकाश (१६) ...	२२	अपमानादि तथा रागद्वेषादिको दूर करनेका उपाय (३९) ..	४२
आत्मज्ञानका उपाय (१७) २३		राग और द्वेषके विषय तथा विपश्चका प्रदर्शन (४०)	४३
अन्तरंग और बाह्य बचन-प्रवृत्तिके त्याग का उपाय (१८) ...	२४	भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेका फल (४१) ४४	
अन्तर्विकल्पोंके त्यागका प्रकार (१९) २५		तपसे बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मा क्या (४२) ...	४५
आत्माका निविकल्पक स्वरूप (२०) २५		बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्म- बन्धनका कर्ता कौन (४३) ...	४६
आत्मज्ञानसे पूर्वकी और बादकी चेष्टाका विचार (२१,२२) ...	२६	बहिरात्मा और अन्तरात्माका विचार- भेद (४४) ...	४७
लिंग-संख्यादिविषयक भ्रमनिवारणात्मक विचार (२३) ...	२८	अन्तरात्माकी देहादिमें अभेदरूपकी ध्रांति क्यों होती है (४५) ...	४८
		अन्तरात्मा उस ध्रान्तिको कैसे छोड़े (४६) ...	४९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग- ग्रहण का स्पष्ट विवेचन (४७)	४९	मूढजन किसको आत्मा मानते हैं (६१)	६१
अन्तरात्माके अतरंग त्याग-ग्रहणका प्रकार (४८) ...	५१	अत्मस्वरूपके जानेके इच्छुकोंको शरीरसे भिन्न आत्मभावना करनेका उपदेश (७०) ...	७१
खीपुत्रादिके साथ वचनादि-व्यवहारमें किन को सुख प्रतीत होता है और किन को नहीं (४९) ...	५१	आत्माकी एकाग्र भावनाका फल (७१)	७१
अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है (५०)	५२	चित्तकी स्थिरताके लिये लोकसंमर्ग- का त्याग (७२) ...	७२
अनासक्त अन्तरात्मा आत्मज्ञानको बुद्धि में कैसे धारण करे (५१)	५३	क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये (७३) ...	७३
इंद्रियोंको रोककर आत्मानुभव करनेवाले को दुख-सुख कैसे होता है (५२)	५४	आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी होनेका फल (७४) ...	७४
आत्मस्वरूपकी भावना किस तरह करनी चाहिये (५३) ...	५५	वास्तवमें आत्मा ही आत्माका गुरु है (७५) ...	७५
वचन और शरीरमें भ्रान्त तथा अभ्रान्त मनुष्यका व्यवहार (५४)	५६	बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा मरणके सन्निकट आनेपर क्या करता है (७६,७७) ...	७६
बाह्य विषयकी अनुपकारता और अज्ञानी का आसक्ति (५५) ...	५७	व्यवहारमें अनादरवान् ही आत्मबोधको प्राप्त होता है, अन्य नहीं (७८)	७७
मिथ्यात्वके वश बहिरात्माकी दशा कैसी होती है (५६)	५८	जो आत्माके विषयमें जागता है वही मुक्तिको प्राप्त करता है (७९)	७८
स्वशरीर और परशरीरको कैसे अवलो- कन करना चाहिये (५७)	५९	भेद-विज्ञानी अन्तरात्माको यह जगत योगका प्रारंभ और निष्पत्ति अवस्था- ओंमें कैसा प्रतीत होता है (८०)	७९
ज्ञानार्जीव आत्मत्वका म्बर्य अनुभव कर मूढात्माओंको क्यों नहीं बताते, जिसमें वे भी आत्मज्ञानी बनें (५८,५९)	६०	आत्माकी भिन्न भावनाके विना भरपेट उपदेश सुनने-सुनानेसे मुक्ति नहीं होती (८१) ...	८०
मूढात्माओंके आत्मबोध न होनेका कारण (६०) ...	६२	भेद-ज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्त- रात्माका कर्तव्य (८२)	८१
अन्तरात्माकी शरीरादिके अलंकृत करने- में उदासीनता (६१) ...	६३	अत्रतोंकी तरह त्रतोंका विकल्प भी त्याज्य है (८३)	८२
संसार कब तक रहता है और मुक्ति- की प्राप्ति कब होती है (६२)	६४	त्रतोंके विकल्पको छोड़नेका क्रम (८४,८५)	८३
अन्तरात्माका शरीरके घनादिरूप होनेपर आत्माको घनादिरूप मानना	(६३,६४,६५,६६)	अन्तर्जल्पमें युक्त उत्प्रेक्षा-जाल दुःखका मूलकारण है, उसके नाशसे परम पदकी प्राप्ति और नाश करनेका क्रम	
शरीरादिसे भिन्न आत्माको अनुभव करनेका फल (६८) ...	६८	(८५,८६)	८३
		त्रतविकल्पकी तरह तिंगका विकल्प भी मुक्तिका कारण नहीं (८७)	८४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
जातिका आग्रह भी मुक्तिका कारण नहीं है (८८)	८६	अभिज्ञात्माकी उपासनाका फल (९०) ९५	
ब्राह्मण-आदि-जाति-विशिष्ट मानव ही दीक्षित होकर मुक्ति पा सकता है, ऐसा जिनके आगमानुबन्धी हठ है वे भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकते (९१) ८६		भिन्नाभिन्नस्वरूप आत्मभावनाका उपसंहार (९१) ९६	
मोही जीवोंके हृष्ट-विकारका परिणाम और दर्शन-व्यापारका विपर्यास (९०,९१) ८७		आत्मतत्त्वके विषयमें चार्वाक और मांख्यमनकी मान्यताओंका निरसन (१००) ९७	
संयोगकी ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है (९२) ८९		मरणरूप विनाशके हो जानेपर उत्तर- कालमें आत्माका अस्तित्व कैसे बन सकता है (१०१) ९९	
बहिरात्मा और अन्तरात्माकी कौनसा दशा भ्रमस्तुप और कौन भ्रमरहित होती है (९३) ९०		अनादि-निधन आत्माकी मुक्तिके लिये दुद्धर तपश्चरण-द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ नहीं, आवश्यक है (१०२) १००	
देहाभिष्ठिका सकलशास्त्रपरिज्ञान और जाग्रत रहना भी मुक्तिके लिये निष्फल है (९४) ९१		शरीरसे आत्माके सर्वथा भिन्न होनेपर आत्माका गति-स्थितिसे शरीरकी गति- स्थिति कैसे होती है (१०३) १०१	
ज्ञातात्माके सुप्रादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप-संवेदन क्योंकर वना रहता है (९५) ९२		शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अना- रोपना करके जड़-विवेकी जीव किस फलको प्राप्त होते हैं (१०४) १०२	
चित्त कहांपर अनासन्त होता है (९६) ९३		ग्रन्थका उपसंहार (१०५) १०३	
भिन्नात्मस्वरूप ध्येयमें लीनताका फल (९७) ९४		टीका-प्रशस्ति और अन्तिम मगल- कामना १०५	





श्रोमद्देवनन्दपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित—

समाधितंत्र

(दीकाद्वय-संयुक्त)

श्रीप्रभाचन्द्रविनिर्मितसंस्कृतटीका

(मंगलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधम् निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।

संसागरसमुक्तगणप्रपोतं वद्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीणम् ॥ १ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षुणां मोक्षस्वस्पं चोपदर्शथितुकामां निर्विघ्नतः
शास्त्रपरिमाप्त्यादिकं फलमभिजप्तिष्ठेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

येनात्माबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।

अद्यानन्तवेधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

श्री पं० परमानन्द शास्त्रीकृत मान्वयार्थ हिन्दी टीका

(मंगलाचरण)

सकल विभाव अभावकर, निया आत्मकल्यान ।

परमानन्द-सुबोधमय, नम् मिद्र भगवान् ॥ १ ॥

आत्ममिदिके मार्गका, जिममें सुभग विधान ।

उस समाधियुत तंत्रका, कहुं सुगम ल्यायान ॥ २ ॥

श्रीपूज्यपाद स्वामी मोक्षके इच्छुक भज्य जीवोंको मोक्षका उग्रय
और मोक्षके स्वरूपको दिग्लानेकी इच्छा से शान्तका निर्विघ्न परिमाप्ति
आदि फलकी इच्छा करते हुए इष्टेवताविशेष श्रीमिद्र परमेष्ठाको
नमस्कार करते हैं ।

अन्वयार्थ—(येन) जिमके डारा (आत्मा) आत्मा (आत्मा एव) आत्मा
रूपसे ही (शबुद्यत) जाना गया है (त्वं) और (अपरं) अन्यको-कर्म-

टीका—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् । सिद्धात्मने सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च तस्मै नमः । येन किं कृतं । अबुद्धयत ज्ञातः । कोऽसौ ? आत्मा । कथं ? आत्मैव । अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽत्रात्मैवाध्यात्मैवात्मत्वेनाबुद्धयत न शरीरादिकं कर्मोपादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा । तथा परत्वेनैव चापरं अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनोभेदेनैवाबुद्धयत् । तस्मै कथंभृताय ? अक्षयानन्तबोधाय अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तोदेशकालानवच्छिन्नस्समस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधोयस्य तस्मै । एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते । ननु चेष्टेवताविशेषस्य पञ्चपरमेष्ठिरूपत्वात्-

जनितमनुष्यादिपर्यायरूपपुद्गलको (परत्वेन एव) पररूपसे हो (अबुद्धयत) जाना गया है (तस्मै) उस (अक्षयानन्तबोधाय) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (सिद्धात्मने) सिद्धात्मा को (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ—श्रीपूज्यपाद स्वामीने शोकके पूर्वार्द्धमें मोक्षका उपाय और उत्तरार्द्धमें मोक्षका स्वरूप बताया है तथा सिद्ध परमात्मारूप इष्टदेवताको नमस्कार किया है । यह जीव अनादिकालसे मोहमदिराका पान कर आत्माके निज चैतन्य स्वरूपको भूल रहा है, अचेतन विनाशीक परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है, तथा चिरकालीन मिथ्यास्वरूप विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे उन परपदार्थोंको अपना हितकारक समझना है और आत्माके उपकारी कर्मबन्धनके छुड़ानेमें निमित्तभूत ज्ञानवैराग्यादिक पदार्थोंको दुःखदायी समझना है । जैसे वित्तज्वर वाले रोगीको भीठा दूध कहुवा मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्याद्विष्ट जीवको आत्माका उपकारक मोक्षका उपाय भी विपरीत जान पड़ता है । संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं तथा उस से छूटनेका उपाय भी करते हैं; परन्तु उस उपायके विपरीत होनेसे चतुर्गतिरूप संसारके दुःखसे उन्मुक्त नहीं हो पाते हैं । वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्मक्त्वारित्ररूप रक्षयकी एकता ही मोक्षकी

दत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कुत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तु-
व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्टातुश्च सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थत्वात् । यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स
तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति । सिद्धस्व-
रूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्यकर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्टाता
चात्मविशेषस्तस्मात्सद्ब्रह्मात्मानं नमस्करोतीति । सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनाम-
पि ग्रहणम् । तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपोपेतत्वात् ।

प्रासिका परम उपाय है । इस रत्नत्रयकी परमप्रकर्षतासे ही कर्मोंका
दृढ़ बन्धन आत्मासे छूट जाता है और आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त कर
लेता है । ग्रन्थकारने ऐसा ही आशय प्रकट किया है ।

जब यह आत्मा सुगुरुके उपदेशसे या तत्त्वनिर्णयरूप संस्कारसे
आत्माके स्वरूपको विपरीत बनाने वाले दर्शनमोहनीय कर्मका उपश-
मादि कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस समय आत्मामेंसे विपरीताभि-
निवेशके सम्बन्धसे होने वाली अचेतन-पर-पदार्थोंमें आत्मकल्पनारूप
बुद्धि दूर हो जाती है । तभी मोक्षोपयोगी प्रयोजनभूत जीवादि सप्ततत्त्वों
का यथार्थ अद्वान व परिज्ञान होता है, और पर द्रव्योंसे उदासीन भाष-
रूप चारिग्र हो जाता है । इसलिये कर्मबन्धनसे छूटनेका अमोघ उपाय
आत्माको आत्मरूप ही, तथा आत्मासे भिन्न कर्मजनित शरीरादि पर-
पदार्थोंको पररूप ही जानना या अनुभव करना है । पदार्थोंके यथार्थ
अद्वान, ज्ञान और आचरणसे आत्मा कर्मोंके बंधनसे छूट जाता है, यही
मोक्षकी प्रासिका उपाय है ।

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंसे रहित आत्माकी आत्मनिक—अन्तर्में
होने वाली—अवस्थाका नाम मोक्ष है । आत्माकी यह अवस्था अस्त्यन्त
शुद्ध और स्वाभाविक होती है—रागादिक औपाधिक भावोंसे रहित है ।
अथवा यों कहिये कि जीवकी यह अवस्था नित्य निरंजन निर्विकार
निराकुल एवं अवाधित सुखको लिये हुए शुद्ध चिद्रूपमय अवस्था है, जो
कि सम्प्रकृत्वादि अनंत गुणोंका समुदाय है । इस अवस्थाको लिये हुए
श्रीसिद्ध परमात्मा चरम शरीरसे किंचित् ऊन लोकके अग्रभागमें निवास
करते हैं ।

ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामीने अविनाशी अनंत ज्ञान वाले सिद्ध

अथोक्तप्रकाशसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मान-
मिष्टदेवताविशेषं स्तोतुमाह—

* * *

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णुवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥ २ ॥

टीका—यस्य भगवतो जयन्ति सर्वोक्तर्णेण वर्तन्ते । काः ? भारती-
विभूतयः भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्महितत्वादिसम्पदः । कथं
भूतस्यापि जयन्ति ? अवदतोऽपि तत्त्वोष्टपुटव्यापरेण वचनमनुच्चारयतो

परमात्माको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताको
शुद्धात्माके प्राप्त करनेकी उक्ति अभिलाषा थी। जो जिस गुणकी प्राप्ति
का इच्छुक होता है वह उस गुणसे युक्त पुरुषको नमस्कार करता है।
जैसे धनुर्विद्याके सोम्यनेका अभिलाषा धनुर्वेदीको नमस्कार करता है।
वास्तवमें पूर्णता और कृतकृत्यताको दृष्टिसे परमदेवपना मिद्रोंमें ही
है। इसीसे उक्त श्लोकमें अन्त्य-अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप मिद्रपरमात्मा-
को सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

अब उक्त मोक्षस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायका उपदेश करने
वाले सकल परमात्माकी—जो अपने इष्ट देवता विशेष हैं उनकी—स्तुति
करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (अनीहितुः अपि) इच्छासे
भी रहित (तीर्थकृतः) तीर्थकरकी (अवदतः अपि) न बोलते हुए
भी—तालु-ओष्ठ-आदिके द्वारा शब्दोंका उच्चारण न करते हुए भी—
(भारतीविभूतयः) वाणीरूपी विभूतियाँ—अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक
विभूतियाँ (जयन्ति) जयको प्राप्त होती हैं (तस्मै) उम (शिवाय)‡ शिव-

‡ शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं ।

प्राप्तं मुक्तिपदं येन सः शिवः परिकीर्तिः ॥ —आप्तस्वरूपः

इपि । उक्तं च—“यत्सर्वात्महितं न वर्णनहितं न स्पंदितोऽप्युं, नो वांछा-
कलितं न दोषमलिनं न श्वासहृदकम् । शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैरक-
णितं कर्णिभिः, तत्रः सर्वविदः प्रणालेत्रिपदः पायादपूर्वं वचः” ॥१॥ अथवा
भागती च विभृतयश्च छत्रत्रयादयः । पुनर्गपि कथम्भूतस्य ? तीर्थकृतोऽप्य-

रूप-परम कल्याण अथवा परत्र मौल्यमय (धात्रे) विधाना अथवा व्रत्य-
रूप—सन्मार्गके उपदेश द्वारा लोकके उदारक (मुगाताय) सुगतरूप—
सद्बुद्धिएवं सद्गुणिको प्राप्त (विष्णवं) विष्णुस्वप्न—ज्ञानके द्वारा ममस्त
चराचर पदार्थोंमें व्याप्त होने वाले (जिनाय) दिनस्वप्न—संसारपरिभ्रमण
के कारण भूत कर्त्ता त्रिओंको जीवने वाले × (मकलात्मने) मकलामाको-
मशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहन्त परमात्माको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ—इम श्लोकमें आचार्य महोदयने जैन धर्मके अनुमार मकल पर-
मात्मा श्रोत्रअरहन्त भगवानका संक्षिप्तवरूप बतलाया है । अरहन्त परमात्मा-
का शरीर पर ऐडारिक है, दिव्य है, ज्ञानवरण, दर्शनावरण, मोहनीय
और अंतर्गत इन चार धातियाकर्मोंके विनाशमे उन्हें अनन्त चतुष्प्रय-
रूप अंतरंग विभूतियाँ प्राप्त हैं तथा ममवमरणःदि बाह्य विभूतियाँ भी
प्राप्त हैं; परन्तु वे उन बाह्य विभूतियोंसे अलिप्त रहते हैं । मोहनीयकर्त्ता का
अभाव होजानेसे इच्छाएँ अवशिष्ट नहीं रहतीं और इमलिये ममवमरणमें
बिना किसी इच्छाके तालु-ओष्ठ-आदिके व्यागरमे रहित अरहन्त
भगवानकी भव्य जीवोंका हित करने वाली धर्मदेशना हुआ करती है ।
समवसरण स्तोत्रमें भी कहा है कि—

‘दुःखरहित सर्वज्ञकी वह अपूर्ववाणी हमारी रक्षा करे जो मबके
लिये हित रूप है, वर्णरहित (निरक्षरी) है—होठोंका हलन-चलन व्यापार
जिसमें नहीं होता, जो किसी प्रकारकी वांछाको लिये हुए नहीं है, न किसी
दोषसे मलिन है, जिसके उच्चारणमें दासका मृकना नहीं होता और जिसे
कोऽवादिविनिर्मुक्तों-साधुसन्तोंके साथ सकणे पशुओंने भी सुना है ।’

१ विश्वं हि द्रव्यपर्यायं पिश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।

व्याप्तं ज्ञानत्विषया येन स विष्णुठर्यापको जगत् ॥ ३ ॥

२ रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः ।

कालचक्रविनिर्मुक्तं स जिनः परिकीर्तिः ॥ २१ ॥—आप्रस्वरूप

नीहितुः ईहा वाञ्छा मोहनीयकर्मकार्यं, भगवति च तत्कर्मणः प्रज्ञयात्तस्याः सद्गावानुपपत्तिरतोऽनीहितुपि तत्कर्मणेच्छारहितस्यापि, तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थक्षिवतीर्थमागमः तत्कृतवतः । किं न मे तस्मै सकलात्मने ? शिवाय शिवं परमसौख्यं परमकल्याणं निर्वाणं चोन्यते तत्प्राप्ताय । धात्रे असिमषिक्रुष्यादिभिः सन्मार्गोपदेशक्त्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय । सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासो सुगतः, सुषु वा अपुनगवर्त्यगतिं गतं, सम्युर्ण वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै । विष्णावे केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय । जिनाय अनेकमवगहनप्रापणहेतून् कर्मागतीन जयतीति जिनस्तस्मै । सकलात्मने सह कलया शरीरण वर्तत इति सकलः सच्चासावात्मा च तस्मै नमः । २ ।

ननु निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

श्रुतेन लिंगेन यथामशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।

इस श्लोककी टीकामें महालयरमात्मा श्रीअरहतके विशेषणोंका खुलासा किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया है कि धातिया कर्मस्थी शत्रुओंको जीतनेवाले, रागादिअप्रादश दोषोंसे रहित, परमवीतराग, मर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत हो मन्त्रे शिव हैं, महादेव हैं, विष्णु हैं, विष्णु हैं, सुगत हैं—अन्यमनावलम्बियोंने शिवादिकका जैमा स्वरूप बनाया है उससे वे वास्तविक शिव या अरहंत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि उस स्वरूपानुमर उनके राग, द्वेष और मोहादिक दोषोंका सद्गाव पाया जाना है ॥ २ ॥

अथ ग्रन्थकार ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको बतलाते हुए कहते हैं :—
अन्वयार्थ—(अथ) परमात्मा को नन्मस्कार करनेके अनंतर[अहं]में पूज्यपाद आचार्य (विविक्त आत्मनं) कर्मल रहित आत्माके शुद्धस्वरूपको (श्रुतेन) शास्त्रके द्वारा (लिंगेन) अनुमान व हेतुके द्वारा (समाहितान्तः-करणेन) एकाग्र मनके द्वारा (सम्यक् समीक्ष्य) अच्छो तरह अनुभव करके (कैवल्य-सुखस्फुहाणा) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय

समीद्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मनमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

टीका—अथ इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं । अभिधास्ये कथयिष्ये । कं ? विविक्तमात्मनं कर्ममलगहितं जीवस्वरूपं । कथमभिधास्ये ? यथात्मशक्ति आत्मशक्ते रनतिकमेण । किं कृत्वा ? समीद्य तथाभृतमात्मनं सम्यज्ञात्वा । केन ? श्रुतेन—“एगो मे सासधो आदा गणादंसणलक्खणो । सेसा मे वाहिग भावा सब्वे संजोगलकरवणा” इत्याद्यागमेन । तथा लिंगेन हेतुना । तथा हि—शरीरादिरात्मभिन्नोभिन्नलक्षणालक्षितत्वात् । ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वं तथार्भेदां यथाजलानयोः । भिन्नलक्षणलक्षितत्वं चात्मशरीरयांरिति । न चानयोर्भिन्नलक्षणालक्षितत्वमप्रसिद्धम् । आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्वात्—शरीरादेशतद्विपरीतत्वात् । समाहितान्तःकरणेन समाहितमेकाग्रीभृतं तच्च तदन्तःकरणं च मनस्तेन । सम्यक्—समीद्य सम्यज्ञात्वा अनुभृतेयर्थः । केषां तथाभृतमात्मनमभिधास्ये ?

सुखकी इच्छा रखने वालोंके लिये (यथात्मशक्ति) अपनी शक्तिके अनुमार (अभिधास्ये) कहूँगा ।

भावार्थ—पहां पर उम शुद्धात्म स्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की गई है जिसे ग्रंथकारने शास्त्रज्ञानमें, अनुमानमें और अपने चित्तकी एकाग्रतामें भले प्रकार जाना तथा अनुभव निया है । माथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ग्रन्थ उन भव्य पुस्तकोंको लक्ष्य करके लिखा जाना है जिन्हें कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले बाधा-रहित, निर्मल, अतीनिद्रिय सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है । शास्त्रसे—समयमारादि जैनागम ग्रन्थोंमें मालूम होता है कि आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला है (ज्ञाना-द्रष्टा है) और शेष संयोग-लक्षण वाले समस्त पदार्थ मेरी आत्मासे वास्त्र हैं—मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं । अनुमानसे जाना जाता है कि शरीर और आत्मा जुदे जुदे हैं; क्योंकि इन दोनोंका लक्षण भी भिन्न भिन्न है । जिनका लक्षण भिन्न भिन्न होता है वे सब भिन्न होते हैं; जैसे जल और आग । इस

कैवल्यसुखस्पृहाणां कैवल्ये सकलकर्मरहितत्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे चो सुखे ; कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम् ॥३॥

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति विशेष उच्यते । तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा कर्तव्य इत्याशंक्याह—

✽बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

टीका—बहिर्बहिरात्मा, अन्तः अन्तरात्मा, परश्च परमात्मा इति त्रिधा आत्मा त्रिप्रकार आत्मा । क्व ? सर्वदेहिषु सकलप्राणिषु । ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नं, तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः । कथं पुनस्तत्र पञ्चज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते ? केवलज्ञानाद्याविर्भाविसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योगद्रव्यस्याभावादिति । भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं । आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्यसमानभव्येषु च सर्वेषु त्रिधाः

तरह आगम और अनुमानके महयोगके साथ चित्तकी एकाग्रतापूर्वक आत्माका जो साक्षात् अनुभव होता है वह तीसरी चोज़ है । इन तीनोंके आधारपर ही इस ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है ॥ ३ ॥

आत्मा किनने तरहका होता है, जिससे शुद्धात्मा ऐसा विशेष कहा जाता है ? और उन आत्माके भैदोंमें किसका ग्रहण और किसका स्याग करना चाहिये ? ऐसी आशंका दूर करने के लिये आत्मा के भैदों का कथन करते हैं :—

अन्वयार्थ—(सर्वदेहिषु) सर्व प्राणियों में (वहिः) बहिरात्मा (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह (त्रिधा) तीनप्रकारका (आत्मा) आत्मा [अस्ति] है । (तत्र) आत्माके उन तीन भैदोंमेंसे [मध्योपायात्] अन्तरात्माके उपायद्वारा [परमं] परमात्माको [उपेयात्]

✽ “तिपयारो सो अप्या परमंतरवाहिरो हु देहीरां ।

तथ परो भाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्णा ॥

— मोक्षप्राप्ते, कुन्दकुन्दः ।

त्मा विद्यत इति । तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद् भावाद् बहिरन्नरात्मनोर-
भावात्त्रिधात्मनो विग्रेध इत्यप्ययुक्तम् । भूतपूर्वप्रज्ञापन-नयापेक्षया तत्र
तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत् । यो हि सर्वज्ञावस्थायां परमात्मा सम्पन्नः स पूर्वब-
हिगत्मा अन्तगत्मा चासीदिति । घृतघटवदन्तगत्मनोऽपि बहिगत्मत्वं परमा-
त्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापन-नयापेक्षया दृष्टव्यम् । तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य

अंगोकार करे-अपनावे और [बहिः] बहिरात्माको [न्यजेत्] छोड़े ।

भावार्थ—आत्माकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा
और परमात्मा । उनमें से जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी अचेतन पुहल-
पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पदार्थों में आत्मवुद्धि रहती है या आत्मा
जब तक मिथ्यात्व-अवस्थामें रहता है तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता
है । शरीरादिमें आत्मवुद्धिका न्याग एवं निथ्यात्वका विनाश होने
पर जब आत्मा मम्यगटप्टि हो जाता है तब इसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं ।
उसके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य
अन्तरात्मा । अन्तरंग-बहिरंग-परिगृह का न्याग करने वाले, विषय-
कषयोंको जीतने वाले और शुद्ध उपयोगमें लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी
योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं; देशवतका पालन करने वाले
गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं
और तत्त्वश्रद्धा के साथ ब्रह्मों को न रखने वाले अविरत मम्यगटप्टि जीव
'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं ।

आत्मगुणोंके घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मांहनीय और अन्तराय
नामक चार घातिया कमोंका नाश करके आत्माकी अनन्त चतुष्प्रस्तुप
शक्तियोंको पूर्ण विकसित करने वाले 'परमात्मा' कहलाते हैं । अयत्वा
आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को 'परमात्मा' कहते हैं । यदि कोई कहे
कि अभव्योंमें तो एक बहिरात्मावस्था ही संभव है, फिर सर्व प्राणियोंमें
आत्माके तीन भेद कैसे बन सकते हैं? यह कहना ठोक नहीं है; क्योंकि
अभव्य जीवोंमें भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्तिरूपमें
ज़म्बर है; परन्तु उक्त दोनों अवस्थाओंके व्यक्त होनेकी उनमें योग्यता नहीं
है ॥ यदि ऐसा न माना जाय तो अभव्योंमें केवलज्ञानावरणीय कर्मका
वन्ध व्यर्थ ठहरेगा । इस लिये चाहे निकट भव्य हो, दूरान्दूर भव्य हो

वा त्यागः कर्तव्य इत्याह—उपेयादिति । तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् । परमं परमात्मानं । कस्मात् ? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् । तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत् ॥ ४ ॥

तत्र बहिरन्तःपरमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह—

* बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥ ५ ॥

ठीक—शरीरादौ शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोरेव ग्रहणं तत्र जाता

अथवा अभव्य हो मध्यमें तीन प्रकारका आत्मा मौजूद है । सर्वज्ञमें भी भूत-प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा घृत-घटके ममान बहिरात्मावस्था और अन्तरात्मावस्था सिद्ध है ।

आत्माकी इन तीन अवस्थाओंमेंमें जिनकी परद्रव्यमें आत्मवृद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है उनको प्रथम ही मम्यकत्व प्राप्त कर उम विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्थाको छोड़ना चाहिये और मोक्षमार्गकी साधक अन्तरात्मावस्थामें स्थिर होकर आत्माकी स्वाभाविक वीतरागमयी परमात्मावस्थाको व्यक्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥ ५ ॥

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मामेंसे प्रत्येकका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरदिकमें आत्म-भ्रान्तिको धरनेवाला—उन्हें भ्रमसे आत्मा समझनेवाला—बहिरात्मा है । (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः) चित्तके, रागद्वेषादिक दोषोंके और आत्माके विषयमें अभ्रान्त रहनेवाला—उनका ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे, दोषोंको दोषरूपसे और आत्माको आत्मरूपसे अनुभव करनेवाला—अन्तरात्मा कहलाता है । (अतिनिर्मलः परमात्मा) सर्व कर्ममलसे रहित जो अस्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है ।

भावार्थ—मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र-

* 'अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्संकप्पो ।

कम्मकलंकविमुक्तो परमप्पा भगण्ण देवो ॥ ५ ॥

—मोक्षप्राप्तने, कुन्दकुन्दः ।

आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य स बहिरात्मा भवति । आन्तरः अन्तर्भवः । तत्र भव इत्यण-
ष्टे भूमात्रे द्वि लोपमित्यस्य नित्यत्वं येषां च विगोधः शाश्वतिक इति निर्देशात्
अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा । स कथं भूतो भवति ? चित्तदोषात्मवि-
भ्रान्तिः चित्तं च विकल्पो, दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं
तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य । चित्तं चित्तत्वेन बुद्ध्यते दोषाश्च दोषत्वेन
आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः । चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य ।
परमात्मा भवति किं विशिष्टः ? अतिनिर्मलः प्रक्षीणशेषकर्मफलः ॥ ५ ॥

देवने बताया है उसको वैमा न माननेवाला बहिरात्मा अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है । दर्शनमोहके उदयसे जीवमें अजीवकी कल्पना और अजीवमें जीवकी कल्पना होती है, दुखदाई रागद्वेषादिक विभाव भावोंको सुखदाई समझ लिया जाता है, आत्माके हितकारी ज्ञान वैराग्यादि पदार्थोंको अहितकारी जानकर उनमें अचिं अथवा छेषस्त्रप्रवृत्ति होता है और कर्मबंधके शुभाशुभ फलोंमें राग, छेष होनेसे उन्हें अच्छे बुरे मान लिया जाता है । मायहो, इच्छाएँ बलवती होती होती हैं, विषयोंका चाहस्त्रप दावानलमें जीव रातदिन जलता रहता है । इसी लिये आत्मशक्तिको खोदेता है और आकुलतारहित मोक्ष सुखके खोजने अथवा प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं करता । इस प्रकार जानितत्त्व और पर्यायतत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान न स्वनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है । चैतन्यलक्षणवाला जीव है, इससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है, आत्माका स्वभाव ज्ञानाद्रप्ता है, अमूलिक है और ये शरीरादिक परद्रव्य हैं, पुद्गलके पिंड हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसा भैदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि ‘अन्तरात्मा’ कहलाता है । अत्यन्त विशुद्ध आत्माको ‘परमात्मा’ कहते हैं । परमात्माके दो भेद हैं— एक सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा । जो चार घातिया कर्ममलसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्यरूप अन्तरंगलक्ष्मी और समवस्तरणादिस्त्रप बाह्यलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं उन सर्वज्ञ वीतराग परमहितोपदेशी आत्माओंको ‘सकलपरमात्मा’ या ‘अरहंत’ कहते हैं । और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममलोंका नाश कर दिया है, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, निजानन्द-निर्भर निजरमका पान किया करते हैं तथा अनन्तकाल तक

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

* निर्मलः केवलः शुद्धो विवित्तः प्रभुरुच्ययः ।

परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

टीका—निर्मलः कर्ममलगहितः । केवलः शरीरादीनां सम्बन्धगहितः । शुद्धः द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वितः । विवित्तः शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः । प्रभुरिन्द्रादीनां स्वामी । अव्ययो लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपाप्रक्षयुतः । परमेष्ठी परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः । परात्मा संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा । इति शब्दः प्रकारार्थे । एवं प्रकरा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः । परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति । परमात्मा सकलप्राणिभ्य उत्तम आत्मा । ईश्वर इन्द्राद्यसम्भविना अन्तरङ्गं बहिरङ्गे परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः । जिनः सकलकर्मोन्मूलकः । ६ ।

आत्मान्त्व स्वाधीन निरकुल गुणका अनुभव करते हैं उन कृतकृत्योंका 'निष्कलपरमात्मा' या 'सिद्ध' कहते हैं ॥ ५ ॥

अब परमात्माके वाचक अन्य प्रमिद्र नाम बनलाते हैं—

अन्वयार्थ—(निर्मलः) निर्मल-कर्मरूपी मलसे रहित (केवलः) केवल-शरीरादिपरद्रव्यके सम्बन्धसे रहित (शुद्धः) शुद्ध—द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर परमविशुद्धिको प्राप्त (विवित्तः) विवित्त—शरीर और कर्मादि-के स्पर्शसे रहित (प्रभुः) प्रभु—इन्द्रादिकोंका स्वामी (अव्ययः) अव्यय—अपने अनंत चतुष्टयरूप स्वभावसे चयुत न होने वाला (परमेष्ठी) परमपद-में स्थिर (परात्मा) परात्मा—संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट आत्मा (ईश्वरः) ईश्वर—अन्यजीवोंमें असम्भव ऐसी विभूतिका धारक और (जिनः) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शम्भुओंका जोतने वाला (इति परमात्मा) ये परमात्माके नाम हैं ।

भावार्थ—आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है । परमात्मामें उन सब गुणोंके पूर्ण विकसित होनेसे परमात्माके उन गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । इसीसे परमात्माको अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार,

इदानीं वहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह—

*वहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।

स्फुरितःस्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्थ्यति ॥७॥

टीका—इन्द्रियद्वारैग्निदियमुखैः कृत्वा स्फुरितां वहिर्ग्रहणे व्यापृतः सन वहिरात्मा मूढात्मा । आत्मज्ञानपराङ्मुखो जीवस्वरूपज्ञानाडहिर्भूतो भवति । तथाभृतश्च सन्नसौ किं कर्गति ? स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्थ्यति आत्मीयशग्गमेवाहमिति प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

अज, अकलंक, अशंक, निरंजन, मर्वज, बोतराग, परमज्योति, बुद्ध, आनन्दकन्द, शास्त्रा, और विधाना जैसे नामोंमें भी उल्लेखित किया जाता है । ६ ।

अब यह दिखलाने हैं कि वहिरात्मा के देह में आत्मत्व बुद्धि होने का क्या कारण है—

अन्वयार्थ—[यतः] चूंकि (वहिरात्मा) वहिरात्मा (इन्द्रियद्वारः) इन्द्रियद्वारांमें (स्फुरितः) वाच्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ (आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मज्ञानमें पराङ्मुख [भवति, ततः] होता है इस लिये (आत्मनः देह) अपने शरीरको (आत्मत्वेन अध्यवस्थनि) आत्मस्वप्नमें निश्चय करता है—अपना आत्मा समझता है ।

भावार्थ—मोहके उदयसे बुद्धिका विपरीतपरिणामन होता है । इसी कारण वहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आने वाले वाच्य मूर्तिक पदार्थोंको ही अपने मानता है । उसे अभ्यन्तर आत्मतत्त्वका कुछ भी ज्ञान या प्रतिभास नहीं होता है । जिस प्रकार धनूरेका पान करने वाले पुरुषको मय पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार मोहके उदयमें उन्मत्त हुए जीवोंको अचेतन शरीरादि परपदार्थभी चेतन और स्वकीय जान पड़ते हैं । इसी हप्तिविकारसे आत्माको अपने वास्तविक स्वस्वप्नका परिज्ञान नहीं होता, और इसलिये यह जीवात्मा शरीरकी उत्पत्तिमें अपना उत्पत्ति और शरीरके विनाशसे अपना विनाश समझता है ॥ ७ ॥

* वहिरस्ये कुरियमणे इन्दियद्वारेण णियस्वप्नवचओ ।

णियदेहं अप्पाण अजमवसदि मूढदिट्टीओ ॥८॥

—मोहप्राभृतेकुन्दकुन्दः ।

× “स्फुरितश्चात्मनोदेह” इत्यपिपाठान्तरं ।

तत्त्वं प्रतिपद्यमानो मनुष्यादिचतुर्गतिसम्बन्धिशरीरभेदेन प्रतिपद्यते तत्र—

॥ नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम ।
तिर्यचं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थिर्तः ॥ ९ ॥

टीका—नरस्य देहां नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं विमन्यते । कोऽसो ? अविद्वान् बहिरात्मा । तिर्यचमात्मानं मन्यते । कथंभृतं ? तिर्यगङ्गस्थं तिरश्चामङ्गं तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं । सुराङ्गस्थं सुरं तथा मन्यते ॥ ८ ॥ नारकमात्मानं मन्यते । किं विशिष्टं ? नारकाङ्गस्थं । न स्वयं तथा नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमंतरेण न भवति । कथं ? तत्त्वतः परमार्थतो न भवति । व्यवहारेण तु यदा भवति तदा

इमी वातको स्पष्ट करते हुए मनुष्यादिचतुर्गतिसम्बन्धी शरीरभेदसे जीवभेदकी मान्यताको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविद्वान्)मृढ बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्यदेह में स्थित (आत्मानं) आत्माको (नरम) मनुष्य, (तिर्यगङ्गस्थं) तिर्यच शरीरमें स्थित आत्माको (तिर्यग्नं) तिर्यच (सुराङ्गस्थं) देवशरीरमें स्थित आत्माको (सुरं) देव (तथा) और (नारकाङ्गस्थं) नारकशरीरमें स्थित आत्माको (नारकं) नारकी(मन्यते) मानता है । किन्तु (तत्त्वतः) वास्तवमें—शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे (स्वयं) कर्मोपाधिसे रहित खुद आत्मा (तथा न) कनुप्य, तिर्यच, देव और नारकीयस्वप नहीं है (तत्त्वतस्तु) निश्चय नयसे तो यह आत्मा

॥ 'सुरं त्रिग्रापयायै नृ पर्यायैस्तथानरम् ।
तिर्यचं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥३३-१३॥

वेद्यविद्यापरिश्रान्तो मृढस्तत्र पुनस्तथा ।

किन्त्वमूर्ते स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तिम् ॥—१४॥'

—ज्ञामण्डेशुभचन्द्रः

भवतु । कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादिपर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न वास्तवा इत्यर्थः । परमार्थतस्तर्हि कीदृशाऽसावित्याह—अनन्तानन्तधीशक्तिः धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धीशक्ती यस्य । तथाभृतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह—स्वसंवेद्यो निरूपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽभिधीयते । कर्माद्यपाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिगणत आत्मा स्वसंवेदनेनैव वेद्यः । तद्विपरीतपरिगणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिर्मितत्वात् । अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्कालमसौ न तु सर्वदा । पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याह—अचलस्थितिः अनन्तानन्तधीशक्तिस्वभावेनाचलास्थितिर्यस्य सः । यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिगत्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तगडेन्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥ ६ ॥

(अनन्तानन्तधीशक्तिः) अनन्तानन्तज्ञान और अनन्तानन्तशक्तिरूप वीर्यधारक है (स्वसंवेद्यः) स्वानुभवगम्य है—अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और (अचलस्थितिः) अपने उक्त स्वभावमें कभी च्युत न होने वाला—उसमें सदा स्थिर रहने वाला है ।

भावार्थ—यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदयमें होने वाली नर-नारकादिपर्यायोंको ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है । उसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वरूप इन दृश्यमान पर्यायोंमें सबैथा भिन्न है । भलं ही इन पर्यायोंमें यह मनुष्य है, यह पशु है इत्यादि व्यवहार होता है; परन्तु ये सब अवस्थाएँ कर्मोदयजन्य हैं, जड़ हैं और आत्माका वास्तविक स्वरूप इनसे भिन्न कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध चैतन्यमयटंकोस्कीर्ण एक ज्ञाना द्रष्टा है, अभैव है, अनन्तानन्तशक्तिको लिये हुए है, ऐसा विवेक ज्ञान उसको नहीं होता । इसी कारण संसारके परपदार्थोंमें व मनुष्यादिपर्यायोंमें अहंकृदि करता है, उनको आत्मा मानता है और सांसारिक विषय सामग्रियोंके संचय करने एवं उनके उपभोग करनेमें ही लगा रहता है । साथ ही, उनके संयोग-वियोगमें हृषि-विषाद करता रहता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भेद-विज्ञानी होता है, वह इन पर्यायोंको कर्मोदयजन्य मानता है और आत्माके चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता रहता है तथा परपदार्थोंको अपनी आत्मासे भिन्न जड़रूप ही निश्चय करता है । इसी कारण पंचेन्द्रियोंके विषयमें उसे गृद्धता नहीं

स्वदेहे एवमध्यवसायं कुर्याणो बहिरात्मा परदेहे कथंभृतं करोतीत्याह—

***स्वदेहसदृशं दृष्टा परदेहमचेतनम् ।**

परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्थ्यति ॥ १० ॥

टीका—व्यापार-व्याहारकागदिना स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्टा । कथंभृतं ? परात्माधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनासंगतं । मूढो बहिरात्मा परत्वेन परात्मत्वेन अध्यवस्थ्यति ॥ १० ॥

होती और न वह इष्टचियोग-अनिष्टसंयोगादिमें दुखी ही होता है। इसलिये आत्महितैषियोंको चाहिये कि बहिरात्मावस्थाको अन्यन्त है य समझकर छोड़ें और मम्यगद्विष्ट अंतरात्मा होकर समीचीन मोक्षमार्गका साधन करें ॥ ८-६ ॥

अपने शरीरमें ऐसी मान्यता रखने वाला बहिरात्मा दूसरेके शरीरमें कैसी बुद्धि रखना है, इसे आगे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (परात्माधिष्ठित) अन्यकी आत्मासहित (अचेतन) चेतनारहित (परदेह) दूसरेके शरीरको (स्वदेह-सदृशं) अपने शरीरके समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि व्यवहार करना हुआ (दृष्टा) देखकर (परत्वेन) परका आत्मा (अध्यवस्थ्यति) मान लेता है।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-मित्रादिके अचेतन शरीरको स्त्री-पुत्र-मित्रादिका आत्मा समझता है और अपने शरीरके विनाशसे जैसे अपना विनाश समझता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरके विनाशसे उनका विनाश मानता है, अपनेलिये जैसे सांसारिक वैषयिक सुखोंको हितकारी समझता है, दूसरोंकेलिये भी उन्हें हितकारी मानता है; सांसारिक सम्पत्तियोंके समागममें सुखकी कल्पना करता है और उनकी अप्राप्तिमें

* 'णियदेहसरित्थं पिन्दित्तुण परविगग्हं पयत्तेण ।

अच्चेयणं पि गहियं भाइज्ज परमभाषण ॥१॥

—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्म च्युतचेतनम् ।

परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्थ्यति ॥३३-१५॥

—ज्ञानार्गवे, शुभचन्दः

एवंविधाद्यवसायार्थिक करोतीत्याह—

स्वपराध्यदसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।

वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥

टीका—विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते । किं विशिष्टानां ? अविदितात्मनां अपग्निज्ञातात्मस्वस्त्वपानां । केन कृत्वा इस्तो वर्तते ? स्वपराध्यवसायेन । क ? देहेषु । कथम्भूतो विभ्रमः ? पुत्रभार्यादिगोचरः परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते । तत्सम्पत्तौ संतोषं तदियोगे च मदामन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥ ११ ॥

दृश्वका अनुभव, अपने स्वार्थके साधकोंपर प्रेम करता है और जिनसे अपना दृश्य भी लौकिक प्रयोजन मिल्द्व नहीं होता उनसे द्रेषबुद्धि रखता है । इस प्रकार बहिरात्माकी शरीरमें आत्मबुद्धि रहती है ॥ १० ॥

इस प्रकारकी मान्यतासे बहिरात्माकी परिणति किस स्वयं होती है उसे दिखाने हैं—

अन्वयार्थ—(अविदितात्मनां पुमां) आत्माके स्वस्त्वपको नहीं जानते वाले पुरुषोंके (देहेषु) शरीरोंमें (स्वपराध्यवसायेन) अपनी और परको आत्ममान्यतामे (पुत्रभार्यादिगोचरः) स्त्री-पुत्रादिविषयक (विभ्रमः वर्तते) विभ्रम होता है ।

भावार्थ—यह अज्ञानी बहिरात्मा अपनी आत्माके चैतन्यस्वस्त्वपको न जानकर अपने शरारके माथ स्त्री-पुत्र-सित्रादिको शरीर-सम्बन्धको ही अपनी आत्माका सम्बन्ध समझता है और इसी कारण उनको अपना उपकारक मानता है, उनकी रक्षाका यत्न करता है, उनके संयोग तथा वृद्धिमें मुख्यी होता है, उनके वियोगमें अस्थन व्याकुल हो उठता है। और यदि कदाचित् उनका बर्ताव अपने प्रतिकूल देखता है तो अस्थन शोक भी करता है तथा भारी दृश्य मानता है । वस्तुतः जिन प्रकार पक्षिगण नाना दिग्देशोंमें आकर गतिमें एक वृक्षपर बसेगा लेते हैं और प्रातःकाल

* सपरञ्जकवगाण्णं देहेषु य अविदित्यस्त्वाण् ।

सुयदाराईविसए मण्याणं वद्वए मोहो ॥१०॥

—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

एवं विधिविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह—

* अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।

येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

टीका—तस्माद्विभ्रमादृढहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोर्जवचलो जायते । किञ्चामा ? अविद्यासंज्ञितः अविद्या संज्ञाऽम्य संजातेति “तारकादिभ्य इतच्” येन संस्कारेण कृत्वालोकोऽविवेकिजनः । अंगमेव च शरीरमेव । स्वं आत्मानं । पुनरपि जन्मान्तरेऽपि । अभिमन्यते ॥ १२ ॥

होते ही सबके सब अपने-अपने अभीष्ट (इच्छित) स्थानको चले जाते हैं । उसी प्रकार ये मंसारके ममस्त जीव नाना गतियोंसे आकर कर्मोदयानुसार एक कुदुम्बमें जन्म लेते हैं व रहते हैं । यह मूढात्मा व्यर्थ ही उनमें निजस्वकी बुद्धि धारणकर आकुलित होता है । अन्तरात्माकी ऐसी बुद्धि न होनेसे वह परद्रव्य में आसक्त नहीं होता, और इसीसे स्त्री-पुत्रादिविषयक विभ्रमसे बचा रहता है ॥ ११ ॥

स्त्रीपुत्रादिमें ममस्वबुद्धि-धारणरूप विभ्रमका क्या परिणाम होता है, उसे बनलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्मात्) उस विभ्रमसे (अविद्यासंज्ञितः) अविद्या नामका (संस्कारः) संस्कार (दृढः) दृढ-मज्जबूत (जायते) होजाता है (येन) जिसके कारण (लोकः) अज्ञानी जीव (पुनरपि) जन्मान्तरमें भी (अंगमेव) शरीरको ही (स्वं अभिमन्यते) आत्मा मानता है ।

भाषार्थ—यह जीव अनादिकालीन अविद्याके कारण कर्मोदयजन्य पर्यायोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है—कर्मके उदयसे जो भी पर्याय मिलती है, उसीको अपना आत्मा समझ लेता है, और इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्मजन्मान्तरोंमें भी बना रहनेसे बराबर दृढ होता चला जाता है । जिस प्रकार पथरमें रस्सी आदिको नित्यकी रगड़से उत्पन्न हुए चिन्ह बड़ी कठिनतासे दूर करनेमें आते हैं । उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न हुए इन अविद्याके संस्कारोंका दूर करना भी बड़ा ही कठिन होजाता है ॥ १२ ॥

ॐ भिच्छाणाणेसुरश्चो भिच्छाभावेण भाविश्चो संतो ।

मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मणेण मणुश्चो ॥११॥

—मोक्षप्राप्तते, कुन्दकुन्दः ।

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह—

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनकत्येतेन निश्चयात् ।

स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥ १३ ॥

टीका—देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिरहिरात्मा किं करोति ? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः । केन ? एतेन देहेन । निश्चयात् परमार्थेन । स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा । निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति ॥ १३ ॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्पष्ट कर्तव्यभेद बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे म्वबुद्धिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा (निश्चयात्) निश्चयसे (आत्मानं) अपनी आत्माको (एतेन) शरीरके साथ (युनक्ति) जोड़ता-वांधता है । किन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधीः) अपनी आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा (देहिनं) अपनी आत्माको (तस्मात्) शरीरके सम्बन्धसे (वियोजयति) पृथक् करता है ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है और इस प्रकारकी मान्यतासे ही आत्माके साथ नये-नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, जिससे यह अज्ञानी जीव अनन्तकाल तक इस गहन संसारबनमें भटकता फिरता है और कर्मोंके तीव्रतापसे सदा पीड़ित रहता है । जब शरीरसे ममत्व छूट जाता है अर्थात् शरीरको अपने चैतन्यस्वरूपसे भिन्न पुद्गलका पिंड समझ लिया जाता है और आत्माके निज ज्ञानदर्शनस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होकर तपश्चरण अथवा ध्यानादिकके द्वारा अपने आत्माको शरीरादिकके बन्धनसे सर्वथा पृथक् कर लेता है और सदाके लिये मुक्त हो जाता है । अतएव बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिये और परमात्मपदको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

देहेष्वात्मानं यो च्छु युतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमाचार्योऽनु-
शयं कुर्वन्नाह—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।

सम्पत्तिमात्मनस्ताभि मन्यते हा हतं जगत् ॥ १४ ॥

योका—जाताः प्रवृत्ताः । काः ? पुत्रभार्यादिकल्पनाः । क ? देहेपु ।
क्या ? आत्मधिया । क ? देहेष्वेव । अयमर्थः—पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रति-
पद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येतिकल्पना विकल्पा जायन्ते । ताभिरचानात्मनीया-
भिरनुपकारिणीभिश्च सम्पत्तिं पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयं आत्मनो मन्यते जगत्-
कर्तृस्वस्वरूपाद् बहिर्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः ॥ १४ ॥

शरीरोंमें आत्माके सम्बन्धको जोड़नेवाले बहिरात्माके निन्दनीय
व्यापारको दिखाते हुए आचार्य महोदय अपना वेद प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहेपु) शरीरोंमें (आत्मधिया) आत्मबुद्धि होनेसे (पुत्र-
भार्यादिकल्पनाः) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादि कल्पनाएँ (जाताः) उत्पन्न
होती हैं (हा) वेद है कि (जगत्) बहिरात्मस्त्र प्राणिगण (ताभिः) उन
कल्पनाओंके कारण (सम्पत्तिः) स्त्री पुत्रादिकीसमृद्धिको [आत्मनः] अपनी
समृद्धि (मन्यते) मानता है और इस प्रकार यह जगत् (हतं) नष्ट हो
रहा है ।

भावार्थ—जब तक इस जीवकी देहमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक
इसे अपने निराकुल निजानन्द रमका स्वाद नहीं आता, न अपनी
अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिका भान (ज्ञान) होता है और तभा यह
संमारी जीव स्त्री-पुत्र-मित्र-धन-धान्यादि सम्पत्तियोंको अपनी मानता
हुआ उनके संयोग वियोगमें हर्ष-विषाद करता है तथा फलस्वरूप अपने
समारपरिभ्रमणको बढ़ाता जाता है । इसीसे आचार्य महोदय ऐसे जीवों-
की इस विपरीत बुद्धि पर वेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि ‘हाय ! यह
जगत् मारा गया !’ ठगा गया, इसे अपना कुछ भी चेत नहीं रहा ॥ १४ ॥

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।

त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

॥१५॥—मूलं कारणं । कस्य ? संसारदुःखस्य । काउमौ ? देहएवात्मधीः देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं ततस्तस्मात्कारणात् । एनां देहएवात्मबुद्धिं । त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत् आत्मबुद्धि कुर्यात् अन्तगत्मा भवेदित्यर्थः । कथं-भृतः मन ? बहिरव्यापृतेन्द्रियः बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥ १५ ॥

अब बहिरात्माके स्वरूपादिका उत्संहार करके देहमें आत्मबुद्धिको छोड़नेकी प्रेरणाके साथ अन्तरात्मा होनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे) इस जड शरीरमें (आत्मधीः एव) आत्मबुद्धिका होना ही (संसारदुःखस्य) संसारके दुःखोंका (मूल) कारण है । (ततः) इस लिये (एनां) शरीरमें आत्मचक्री मिथ्या कल्पनाको (त्यक्त्वा) छोड़कर (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ (अन्तः) अन्तरंगमें अर्थात् आत्मा हीमें (प्रविशेत्) प्रवेश करे ।

भावार्थ—संसारके जिनने भी दुःख और प्रपञ्च हैं वे सब शरीरके साथ ही होते हैं । जब तक इस जीवकी बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मासे शरीरोंका मम्बन्ध होता रहता है और घोर दुःखों को भोगना पड़ता है । जब इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्वभाव छूट जाता है तब किसी भी बाह्यपदार्थमें अहंकार-ममकाररूप बुद्धि नहीं होती तथा तत्त्वाथका यथार्थ श्रद्धान होनेसे आत्मा परम सन्तुष्ट होता है और साधकभावकी पूर्णता होनेपर स्वयमेव साध्यरूप बन जाता है । इसी कारण इस ग्रंथमें ग्रंथकारने ममस्त दुःखों की जड़ शरीरमें आत्मबुद्धिका होना बताया है और उसके छुड़ानेकी प्रेरणाकी है । अतः संसारके ममस्त दुःखोंका मूल कारण देहमें आत्म-कल्पनारूप बुद्धिका परित्याग कर अन्तरात्मा होना चहिये, जिससे घोर दुःखोंसे छुटकारा मिले और सच्चे निराकुल सुखकी प्राप्ति होवे ॥ १५ ॥

अन्तर्गतमा आत्मन्यात्मबुद्धि कुर्वणाऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहि-
रात्मावस्थामनुसृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।

तान् प्रप्रद्याऽहमिति मा पुरा वेद न तत्वतः ॥ १६ ॥

टीका—मत्तः आत्मस्वरूपात् । च्युत्वा व्यावृत्य । अहं पतितः अत्या-
मत्तक्या प्रवृत्तः । क ? विषयेषु । कैः ? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः । ततस्तान्
विषयान् प्रपद्ये ममोपकारका एते इत्यतिगृह्णानुसृत्य । मां आत्मानं । न वेद न
ज्ञातवान् । कथं ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो
न ज्ञातवानित्यर्थः । कदा ? पुरा अनादिकाले ॥ १६ ॥

अपनी आत्मामें आत्मबुद्धि धारण करता हुआ अन्तरात्मा जब
अलब्ध लाभमें मन्तुष्ट होता है तब अपनी पहिली बहिरात्मावस्थाका
स्मरण करके विषाद करता हुआ विचारता है—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (पुरा) अनादिकालमें (मत्तः) आत्मस्वरूपमें
(च्युत्वा) च्युत होकर (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियोंके द्वारा (विषयेषु) विषयोंमें
(पतितः) पतित हुआ—अथामत्तिसे प्रवृत्त हुआ हूँ । [ततः] इसों कारण
(तान्) उन विषयोंको (प्रपद्य) अपने उपकारक समझ कर मैंने (तत्वतः)
वास्तवमें (मा) आत्माको (अहं इति) मैं ही आत्मा हूँ इस रूपमें (न वेद)
नहीं जाना—अर्थात् उम समय शरीरको ही आत्मा समझनेके कारण मुझे
आत्माके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान नहीं हुआ ।

भावार्थ—जब तक इस जीवको अपने चैतन्य स्वरूपका यथार्थ परि-
ज्ञान नहीं होता तभी तक इसे बाह्य इन्द्रियोंके विषय सुंदर और सुखदाई
मालूम पड़ते हैं । जब चैतन्य और जड़का भेदविज्ञान हो जाता है और
अपने निराकुल चिदानन्दमयी सुधारमका स्वाद आने लगता है तब ये
बाह्य इन्द्रियोंके विषय बड़े ही असुन्दर और काले विषधरके समान मालूम
पड़ते हैं । कहा भी है—

“जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं,

शीर्यन्ते विषयात्था विरमनि प्रीतिः शरीरेष्पि च ।

जोषं वागपि धारयन्त्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-

श्चितायामपि यातुमिच्छनिमनो दोषैः समं पञ्चताम् ।”

अथात्मनो ज्ञतावुपायं दर्शयन्नाह—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥ १७ ॥

टीका—एवं वच्यमाणान्यायेन । बहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्यलक्षणान्व-
हिरर्थवाचकशब्दान् । त्यक्त्वा अशेषतः साकल्येन । पश्चात् अन्तर्वाचं अहं प्रति-
पादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुखी, चेतनोवेत्यादिलक्षणामन्तर्जल्पं त्यजेदर्शेषतः ।
एष बहिग्न्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः ।
प्रदीपः स्वरूपप्रकाशकः । कस्य ? परमात्मनः । कथं ? समासेन संक्षेपेण
भविति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अर्थात्—आत्माका अनुभव होनेपर रम विरम होजाना है, गोष्ठी,
कथा और कौतुकादि सब नष्ट हो जाने हैं, विषयोंमें सम्बन्ध छूट जाना
है, शरीरमें भी ममत्व नहीं रहता, वाणी भी मौनधारण कर लेनी है
और आन्मा मदा अपने शांत रममें लीन होजाना है तथा मनके दोषोंके
माथ माथ चिन्ना भी दूर हो जाना है ।

इसी कारण यह जीव जिन भोगोंको पहले मिथ्यात्व दशामें सुनका
कारण समझकर भोगा करता था उन्हींके लिये सम्यग्दृष्टि अन्तर्गम्मा
होने पर पश्चात्ताप करने लगता है । यह सब भेदविज्ञानकी महिमा है ॥ १७ ॥

अब आचार्य आत्माको जाननेका उपाय प्रकट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं) आगे कहेजाने वाली रीतिके अनुसार (बहिर्वाचं)
बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्तिको (त्यक्त्वा) स्थागकर (अन्तः) अंतरंग
वचनप्रवृत्तिको भी (अशेषतः) पूर्णनया (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिये ।
(एषः) यह बाह्याभ्यन्तररूपसे जल्पत्यागलक्षणवाला (योगः) योग—
स्वरूपमें चित्तनिरोधलक्षणात्मक समाधि ही (समासेन) संक्षेपमें (परमा-
त्मनः) परमात्माके स्वरूपका (प्रदीपः) प्रकाशक है ।

भावार्थ—खी-पुत्र-धन-धान्यादि-विषयक बाह्यवचनव्यापारको और
मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अन्तरंगजल्पको हटाकर चित्तका
एकाग्रताका जो सम्पादन करना है वही योग अथवा समाधि है और वही

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

*यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।

जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

टीका—रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तद-
चेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति । जानता च समं वचनव्यवहारो
युक्ता नान्येनातिप्रसङ्गात् । यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते
इन्द्रियैर्न परिच्छेद्यते । यत् एवं ततः केन मह ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

परमात्मस्वरूपका प्रकाशक है । जिस समय आत्मा इन बाह्य और आभ्य-
न्तर मिथ्या विकल्पोंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह इन्द्रियोंकी
प्रवृत्तिसे हटकर निज स्वरूपमें लीन होजाता है और शुद्ध आत्मस्वरूपका
साक्षात्कार कर लेता है ।

वास्तवमें यह समाधि ही जन्म-जरा-मरणरूप आनापको मिटाने-
वाली परम औषधि है और परमात्मपदकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है ।
ऐसी समाधिका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये ॥ १७ ॥

अब अन्तरंग और बहिरंग वचनकी प्रवृत्तिके छोड़नेका उपाय बताते हैं—

अन्वयार्थ—(मया) इन्द्रियोंके द्वारा मुझे (यत्) जो (रूप) शरीरादिक-
रूपी पदार्थ (दृश्यते) दिखाई दे रहा है (तत्) वह अचेतन होनेसे (सर्वथा)
बिल्कुल भी (न जानाति) नहीं जानता और (जानत् रूपं) जो पदार्थोंको
जाननं वाला चैतन्यरूप है वह (न दृश्यते) मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई
नहीं देता (ततः श्वेतं) इस लिये मैं (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बात करूँ ।

भावार्थ—जो अपनेको दिखाई पड़े और अपने अभिप्रायको समझे
उसीके साथ बात चीत करना या बोलना उचित है । इसी आशयको
लेकर अंतरात्मा द्रव्यार्थिकनयको, प्रधानकर अपने मनको समझाना है
कि—जो जाननेवाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और
जो इन्द्रियोंके द्वारा रूपी शरीरादिक जड़ पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे चेतना-

*“जं मया दिस्सदे रूपं तं ण जाणादि सव्वहा ।

जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा लंबेमिकेण हं ॥ २९ ॥”

—मोक्षप्राप्ते, कुन्दकुन्दः ।

एवं बहिर्विकल्पं परित्यज्यान्तर्विकल्पं पग्न्त्याजयन्नाह—

यत्परेः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपाद्ये ।

उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥ १६ ॥

टीका—परैरुपाध्यायादिभिर्हं यत्प्रतिपाद्यः पग्न शिष्यार्दीनहं यत्प्रति-
पाद्ये तत्मर्वमुन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाग्विलं निकल्पजालात्मकं
विजृमितमित्यर्थः । कुन एतत् ? यदहं निर्विकल्पको यद्यमादद्वामात्मा
निर्विकल्पक एतर्वचनविकल्पैरुपाद्यः ॥ १६ ॥

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निस्तप्यन्नाह—

यद्याह्यं न गृणहाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।

जानाति सर्वथा सर्वं तत्सद्संवेद्यमस्यहम् ॥ २० ॥

गहित होनेमें कुछ भी नहीं जानते हैं, तब मैं किसमें बान करूँ ? किसीमें
भी बानालाय करना नहीं बनता। इस लिये मुझे अब चुपचाप (सौनयुक्त)
रहना ही मुनामिब है। ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद म्वार्माने विभाव-भावरूप
भंभदांसे छुड़ने और बचनादिको वशमें करनेका यह अच्छा सरल पर्व
उत्तम उपाय बतलाया है ॥ १८ ॥

इस प्रकार बाह्य विकल्पोंके स्थागका प्रकार बतलाकर अब आभ्यन्तर
विकल्पोंके छुड़ानेका यन्न करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (परः) उपाध्याय आदिकांसे (यत्प्रतिपाद्यः) जो
कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा(पग्न) शिष्यादिकोंको (यत्प्रतिपाद्ये)
जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ (तत्) वह सब (मे) मेरी (उन्मत्तचेष्टितं)
पागलों जैर्मा चेष्टा है (यदहं) क्योंकि मैं (निर्विकल्पकः) बानबमें इन
मधी बचनविकल्पोंमें अग्राह्य हूँ ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माके लिये उचित है कि वह अपने
निज स्वरूपका अनुभव करे। मैं राजा हूँ, रंक हूँ, दीन हूँ, धनी हूँ, गुरु हूँ,
शिष्य हूँ इत्यादि अनेक विकल्प हैं जिनमें आत्माका वस्तविक स्वरूप
प्रकट नहीं हो सकता। अतएव ऐसे विकल्पोंका परिष्याग करना चाहिये
और यह समझना चाहिये कि आत्माका स्वरूप निर्विकल्पक चैतन्य
ज्योतिर्मय है ॥ १६ ॥

टीका—यत् शुद्धात्मस्वरूपं । अग्राह्यं कर्मदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं । न गृहणाति अत्मस्वरूपतया न स्वीकरते । गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूपं । नैव मुञ्चति कदाचिन्न परित्यजति । तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करते ? जानाति । किं तत् ? सर्वं चेतनमचेतनं वा वस्तु । कथं जानाति ? सर्वथा द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण । तदित्थमभृतं स्वरूपं स्वसंवेदं स्वसंवेदनग्राह्यम् अहमात्मा अस्मि भवामि ॥ २० ॥

इत्थंभृतात्मपरिज्ञ नात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।

तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥ २१ ॥

उसी निर्विकल्पक स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत्) जो शुद्धात्मा (अग्राह्यं) ग्रहण न करने योग्यको (न गृहणाति) ग्रहण नहीं करता है और (गृहीतं अपि) ग्रहण किये गये अनन्तज्ञानादि गुणोंको (न मुचति) नहीं छोड़ता है तथा (सर्वं) सम्पूर्ण पदार्थोंको (सर्वथा) सर्व प्रकारमें (जानाति) जानता है (तत्) वही (स्व-संवेदं) अपने द्वारा ही अनुभवमें आने योग्य चैतन्यद्रव्य (अहं अस्मि) में है ।

भावार्थ—जबतक आत्मामें अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अथवा क्षायिक सम्प्रकृत्वादि गुणोंका विकास नहीं होता तबतक ही आत्मा विभाव-भावोंमें मतिन होकर अग्राह्यका ग्राहक होता है अथवा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहलाता है; किन्तु जब समस्त विभाव-भावोंका अभावकर आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाना-द्रष्टा हुआ आत्मद्रव्यमें स्थिर होजाता है तब वह अपने गृहीत स्वरूपमें चयन नहीं होता और तभी उसे परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। जीवकी यह स्थिति ही उसकी वास्तविक स्थिति है ॥ २० ॥

‘इस प्रकारके आत्मज्ञानके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी’, अन्तरात्माके इस विचारका उल्लेख करते हैं—

अन्वयार्थ—(स्थाणौ) स्थाणुमें (उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः) उत्पन्न होगई है

टीका—उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः पुरुषोऽयमित्युत्तमा भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तु-
स्य। स्थाणौ स्थाणुविषये। यद्वद्यत्प्रकारेण। विचेष्टितं विविधमुपकारादिस्तं
चेष्टितं विषयीतं वा चेष्टितं। तद्वत् तत्प्रकारेण। मे चेष्टितं। क्व ? देहादिषु।
क्षमात् ? आत्मविभ्रमात् आत्मविषयासात्। कदा ? पूर्वम् उक्तस्वरूपा-
त्मज्ञानात्माक् ॥ २१ ॥

साम्ब्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।

तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥ २२ ॥

टीका—असौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे

पुरुषपनेकी आन्तिजिमको ऐसे मनुष्यकी (यद्वत्) जिम प्रकार (विचेष्टितम्) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है (नद्वत्) उसी प्रकारकी (देहादिषु) शरीरादिक परपदार्थोंमें (आत्मविभ्रमात्) आत्माका भ्रम होनेसे (पूर्व) आत्मज्ञानसे पहले (मे) मेरी (चेष्टितम्) चेष्टा थी।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जैसे कोई पुरुष भ्रमसे वृक्षके दूँठको पुरुष समझकर उससे अपने उपकार-अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता है उसी तरह मैं भी आत्मज्ञानसे पूर्वकी मिथ्यात्म-अवस्था में भ्रमसे शरीरादिकको आत्मा समझकर उससे अपने उपकार-अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी हुआ हूँ ॥ २१ ॥

अब आत्मज्ञान हो जानेसे मेरी किस प्रकारकी चेष्टा हो गई है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(असौ) जिमको वृक्षके दूँठमें पुरुषका भ्रम होगया था वह मनुष्य (स्थाणौ) दूँठमें (पुरुषाग्रहे निवृत्ते) यह पुरुष है ऐसे मिथ्या-भिनिवेशके नष्ट होजाने पर (यथा) जिम प्रकार उससे अपने उपकारादिको कल्पनाको स्थागनेकी (चेष्टते) चेष्टा करता है उसी प्रकार (देहादौ) शरीरादिकमें (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) आत्मपनेके भ्रमसे रहित हुआ मैं भी (तथा चेष्टः अस्मि) देहादिकमें अपने उपकारादिकी बुद्धिको छोड़नेमें प्रवृत्त हुआ हूँ ।

सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकाराद्युद्यमपरित्यागप्रकारेण । चेष्टते प्रवर्तते । तथा चेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथा-चेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् । क ? देहादौ । किं विशिष्टः ? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य । क ? देहादौ ॥ २२ ॥

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्यर्थं तद्विक्ता-साधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।

सोऽहं न तन्म सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥

भावार्थ—जब बृक्षके टूंठको बृक्षका टूंठ जान लिया जाता है तब उससे होने वाला पुरुष-विषयक भ्रम भी दूर हो जाता है और फिर उस कल्पन पुरुषसे अपने उपकार-अपकारको कोई कल्पना भी अवशिष्ट नहीं रहती । इसी दृष्टिसे सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा विचार करता है कि पूर्व मिथ्यात्व-दशामें जब मैं मोहोदयसे शरीरको ही आत्मा समझता था तब मैं इन्द्रियोंका दाम था, उनकी साता परिणति में सुख और असाता परिणतिमें ही हुँख मानता था; किन्तु अब विचेक-ज्योतिका विकास हुआ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वार्ता सब पदार्थ अनेन हैं-जड़ हैं, आत्मासे भिन्न हैं, इस प्रकारके जड़ और चैतन्यके भेद-विज्ञानमें मुझे तत्त्वार्थश्रद्धानस्त्र सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई है और शरीरादिके विषयमें होने वाला आत्मविषयक मेरा भ्रम दूर होगया है । इसीसे शरीरके संस्कारादि विषयमें मेरी अब उपेक्षा होगई है—मैं समझने लगा हूँ कि शरीरादिके बनने अथवा बिगड़नेमें मेरी आत्माका कुछ भी बनता अथवा बिगड़ता नहीं है और इसीसे शरीरादिकी अनावश्यक चिन्ताको छोड़ कर अब मैं सविशेषरूपसे आत्म चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ २२ ॥

अब आत्मामें स्त्री आदि लिङ्गोंके तथा एकत्वादि संख्याके भ्रमको दूर करनेके लिये और इन विकल्पोंसे रहित आत्माका असाधारणस्वरूप दिखलानेके लिये कहते हैं—

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्यस्वरूपसे (अहम्) मैं (आत्मनि) अपनी आत्मामें ही (आत्मना) अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा

टीका—येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण इत्थंभावे तृतीया । अहमनुभृये । केन कर्ता ? आत्मनैव अनन्येन । केन कारणभृतेन ? आत्मना स्वसंवेदन-स्वभावेन । क्व ? आत्मनि स्वस्वरूपे । सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं । न तत् न नपुंसकं । न सा न स्त्री । नासौ न पुमान् श्रहं । तथा नैको न द्वौ न वा बहुरहं । स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितस्वरूपत्वात् ॥ २३ ॥

येनात्मना त्वमनुभृयसे स कीदृशः इत्याह—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमरम्यहम् ॥ २४ ॥

(आत्मनैव) अन्ती आत्माको आप ही (अनुभृये) अनुभव करना हूँ (सः) वही शुद्धात्मस्वरूप (अहं) मैं (न तत्) न तो नपुंसक हूँ (न सा) न स्त्री हूँ (न असौ) न पुरुष हूँ (न एको) न एक हूँ (न द्वौ) न दो हूँ (वा) और (न बहुः) न बहुत हूँ ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचार करना है कि जीवमें स्त्री-पुरुष आदिका व्यवहार केवल शरीरको लेकर होता है; इसी प्रकार एक दो और बहुवचन का व्यवहार भी शरीरश्रित है अथवा गुण गुणोंकी भैदकल्पनाके कारण होता है; जब शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है तब मुझमें लिङ्गभैद और वचनभैद कैसे बन जकता है ? ये स्त्री-त्वादिधर्म तो कर्यजनित अथवाएँ हैं, मेरा निजरूप नहीं है—मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप इन सबसे परे है ॥ २३ ॥

यदि कोई पूछे कि जिस आश्मरूपसे तुम अपनेको अनुभव करते हो वह कैसा है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यत् अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपके प्राप्त न होनेसे(अहं) मैं (सुपुत्सः) अब तक गाढनिद्रामें पड़ा रहा हूँ—मुझे पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान न हो सका (पुनः) और (यत् भावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि होने पर मैं (व्युत्थितः) जागरित हुआ हूँ—यथावत् वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ (तत्) वह शुद्धात्मस्वरूप (अतीन्द्रियं) इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है (अनिर्देश्य) वचनोंके भी अगोचर है—कहा नहीं जाता । वह तो (स्वसंवेद्यं) अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है । उसी रूप (अहं अस्मि) मैं हूँ ।

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेदस्य रूपस्य । अभावे अनुपलभ्मे । सुषुप्तो यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः । यद् भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलभ्मे । पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः । किं विशिष्टं तत्स्वरूपं ? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च । अनिर्देशयं शब्दविकल्पागोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुमशक्यम् । तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह—तत्स्वसंवेदं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदग्राह्यं अहमस्मीति ॥ २४ ॥

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न व्यञ्चित्त्वुमित्रव्यवस्था भवतीति
दर्शयन्नाह—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।

बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २५ ॥

भावार्थ—जब तक इस जीवको शुद्ध चैतन्यरूप अपने निजस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढनिद्रामें पड़ा हुआ सोना रहता है; किन्तु जब अज्ञानभावरूप निद्राका विनाश हो जाता है और शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है उसी समयसे यह जागरित कहलाता है। संसारके रागी जीव व्यवहारमें जागते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूपमें सोते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संयमी पुरुष व्यवहारमें सोते हैं और आत्मस्वरूपमें सदा मावधान एवं जाग्रत रहते हैं* ॥ २४ ॥

आत्मस्वरूपका अनुभव करने वालेकी आत्मामें रागादि दोषोंका अभाव होजानेसे शत्रुमित्रकी कल्पना नहीं होती, ऐसा दिखात है—

अन्यर्थ—[यतः] क्योंकि (बोधात्मानं) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (मां) मुभ-आत्माका (तत्त्वतः प्रपश्यतः) वास्तवमें अनुभव करने वालेके (अत्र एव) इस जन्ममें हो (रागाद्यः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं (ततः) इस लिये (मे) मेरा (न कश्चित्) न कोई (शत्रुः) शत्रु है (न च) और न कोई (प्रियः) मित्र है ।

* जो सुन्तो ववहारे सो जोई जगद सकञ्जमि ।

जो जगदि ववहारे सो सुन्तो अप्पणे कज्जे ॥

—मोक्षप्राप्ते, कुन्दकुन्दः

टीका—अत्रैव न केवलमये किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते । के ते ?
रागाद्यः आदी भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः । किं
 कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते ? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः । कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं
 ज्ञानस्वरूपं । तत इत्यादि—यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणा-
 स्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छ्रवः । न च नैव प्रियो मित्रम् ॥ २५ ॥

यदि त्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुमित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्भविष्य-
 तीत्याशंक्याह—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।

मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २६ ॥

टीका—आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्नेवाऽयंलोको मयि शत्रुमित्रभावं-

भावार्थ—जब तक यह जीव अपने निजानन्दमर्थी स्वाभाविक निरा-
 कुलनारु, सुधामृतका पान नहीं करता तब तक ही वह बाह्य पदार्थोंको
 भ्रममें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोगके लिये मदा चिन्तित
 रहता है और जो उस संयोग-वियोगमें साधक बाधक होते हैं उन्हें अपना
 शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तु-
 स्थितिका अनुभव करने लगता है तब उसकी रागद्वेषादिस्प विभाव-
 परिणति मिट जाती है और इसलिये बाह्य सामग्रीके साधक-बाधक
 कारणोंमें उसके शत्रु-मित्राका भाव नहीं रहता । वह तो उस समय
 अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है ॥ २५ ॥

यदि कोई कहे कि भले ही तुम किमी दूसरेके शत्रु या मित्र न हो परन्तु
 तुम्हारा तो कोई अन्य शत्रु वा मित्र अवश्य होगा, इस शंकाका समाधान
 करते हुए कहते हैं—

अन्यार्थ—(मां) मेरे आत्मस्वरूपको (अपश्यन) नहीं देखता हुआ
 (अयं लोकः) यह अज्ञप्राणिशृन्द (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और
 न मित्र है तथा (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (प्रपश्यन) देखता हुआ (अयं
 लोकः) यह प्रबुद्धप्राणिगण (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और
 न मित्र है ।

प्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने । मासपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्नच्चियः ।
अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः । नापि प्रतिपन्ने यतः मां
प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च चियः । आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात्
कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ॥ २६ ॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह—
त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

टीका—एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा
परमात्मानं भावयेत् । कथंभूतं ? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा
सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥ २७ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी विचारना है कि शत्रु-मित्रकी कल्पना परिचिन
व्यक्तिमें ही होती है—अपरिचिनमें नहीं। ये संसारके बेचारे अज्ञप्राणी जो
मुझे देखते जानते ही नहीं—मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्चक्तुओंके
अगोचर है—वे मेरे विषयमें शत्रु-मित्र की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? और
जो मेरे स्वरूपको जानते हैं—मेरे शुद्धात्मस्वरूपका मालात् अनुभव करते
हैं—उनके रागद्वेषका अभाव हो जानेसे शत्रु मित्रनाके भावकी उत्पत्ति
नहीं बनती, फिर वे मेरे शत्रु वा मित्र कैसे बन सकते हैं ? इस तरह
अज्ञ और विज्ञ दोनों ही प्रकारके जीव मेरे शत्रु वा मित्र नहीं हैं ॥ २६ ॥

बहिरात्मपनेका स्थाग होने पर अन्तरात्माके परमात्मयदकी प्राप्तिका
उपाय अतलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एकं) इस प्रकार (बहिरात्मानं) बहिरात्मपनेको (त्यक्त्वा)
छोड़कर (अंतरात्मव्यवस्थितः) अंतरात्मामेंस्थित होते हुए (सर्वसंकल्पवर्जितं)
सर्वसंकल्प-विकल्पोंसे रहित (परमात्मानं परमात्माको (भावयेत्) ध्याना
चाहिए ।

भावार्थ—बहिरात्मावस्थाको अन्यंत हेय (स्थागने योग्य) समझकर
छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपका ज्ञायक अन्तरात्मा होकर जगतके
द्वंद फंद चिंता आदिसे मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके

तद्वावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

सोऽहमित्यात्संस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।

तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

टीका—योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रमिष्ठः परमात्मा सोऽहमित्येवमात्तसंस्कारः आत्मो गृहीतः संस्कारं वासना येन । क्या कस्मिन् ? भावनया तस्मिन् परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन । पुनरित्यन्तर्गम्भितवीप्मार्थः । पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया । तत्रैव परमात्मन्येव दृढ़संस्कारगत् अविचल- वासनावशात् । लभते प्राप्नोति ध्याता । हि स्फुटम् । आत्मनि स्थितिं आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वरूपतां वा ॥ २८ ॥

आत्मोऽथ वार्षीन सुखकी प्राप्तिके लिये परमात्माके चिन्तन-आराधन पूर्वक तद्रूप बननेकी भावना करनी चाहिये ॥२७॥

अब परमात्मपदकी भावनाका फल दिखाने हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्मिन्) उम परमात्मपदमें (भावनया) भावना करते रहनेमे (मः अहं) ‘वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ’ (इति) इस प्रकारके (आत्मसंस्कारः) संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर फिर उम परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करना हुआ (तत्रैव) उसी परमात्मस्वरूपमें (दृढ़संस्कारगत्) संस्कारकी दृढ़ताके होजानेमे (हि) निश्चयमे (आत्मनि) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें (स्थितिं लभते) स्थिरताको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जब ‘सोऽहम्’ की दृढ़ भावना डारा परमात्मपदके माथ जीवात्माकी एकम्बुद्धि हो जाती है तभी इस जीवको अपनी अनन्त-चतुष्टयस्वरूप निधिका परिज्ञान हो जाता है और वह अपनेको वीतरागी परम-आनन्दस्वरूप मानने लगता है । उम समय काल्पनिक ज्ञाणिक सांसारिक सुखके कारण वाच्यपदार्थोंमें उसका ममत्व छूट जाता है, राग द्वेषकी मंदता हो जाती है और अभेदबुद्धिसे परमात्मस्वरूपका चिंतवन करते करते आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है । इसीको आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनन्तकाल तक निराकुल अनुपम

* शात्मनः इति पाठान्तरं ‘ग’ प्रतौ

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र
प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

मूढ़त्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्वयस्पदम् ।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २६ ॥

टीका—मूढ़त्मा बहिरात्मा । यत्र शरीरपुत्रकलन्नादिषु । विश्वस्तो-
इत्यन्वयकामिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—मदीया एते अहमेतेषामितिबुद्धिं गत
इत्यर्थः । ततो नान्यद्वयस्पदं ततः शरीरादेनान्यद्वयस्पदं संसागदुःखन्नास-
स्थास्पदं स्थानम् । यतो भीतः परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्वीतिः त्रस्तः । ततो
नान्यदभयस्थानं ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसागदुःखन्नासा-
भावस्य स्थानमास्पदम् । मुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥ २६ ॥

स्वाधीनसुखका भोक्ता होता है । अतः ‘मोऽहम्’ भावना बड़ो ही उप-
योगी है, उसके छारा अपने आत्मामें परमात्मपदके संस्कार डालने
चाहियें ॥ २८ ॥

यदि कोई आशंका करे कि परमात्माकी भावना करना तो बड़ा कठिन
कार्य है, उसमें तो कष्टपरम्पराके सद्भावके कारण भय बना रहता है, फिर
जीवोंकी प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है, ऐसी आशंकाका निराकरण
करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढ़त्मा) अज्ञानी बहिरात्मा (यत्र) जिन शरीर-पुत्र-
मित्रादि बाह्यपदार्थोंमें (विश्वस्तः) ‘ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ’ ऐसा विश्वास
करता है (ततः) उन शरीर-क्षी-पुत्रादि बाह्यपदार्थोंसे (अन्यत्) और कोई
(भयास्पदं न) भयका स्थान नहीं है और (यतः) जिस परमात्मस्वरूपके
अनुभवसे (भीतः) डरा रहता है (ततः अन्यत्) उसके सिवाय कोई
दूसरा (आत्मनः) आत्माके लिये (अभयस्थानं न) निर्भयताका स्थान
नहीं है ।

भावार्थ—जैसे सर्वसे डसा हुआ मनुष्य कहुवा नीम भी रुचिसे
चबाता है उसी प्रकार विषय-कृषायोंमें संलग्न हुए जीवको दुःखदाई
शरीरादिक बाह्यपदार्थ भी मनोहर एवं सुखदाई मालूम होते हैं और

तस्यात्मनः कीटशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।

यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

टीका—संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुद्य । कानि ? सर्वेन्द्रियाणि पाञ्चपीन्द्रियाणि । तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभृतेन । अन्तरात्मना मनसा । यत्स्वरूपं भाति । किं कुर्वतः ? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतर-कालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनोनिरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं स्वरूपं परमात्मनः ॥ ३० ॥

पित्तज्वर वाले रोगीको जिम प्रकार मधुर दुग्ध कडुबा मालूम होता है उसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीवको सुखदाई परमात्मस्वरूपकी भावना भी कष्टप्रद मालूम पड़ती है और इसी विपरीत बुद्धिके कारण यह जीव अनादि कालमें दुःखी हो रहा है । वास्तवमें इस जीवके लिये परमात्मस्वरूपके अनुभवके समान और कोई भी सुखदाई पदार्थ संसारमें नहीं है और न शरीरके समान दुखदाई कोई दूसरा पदार्थ ही है ॥ २६ ॥

अब उम आत्माकी प्राप्ति किम उपायसे होती है उसे बनलाने हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियोंको (संयम्य) अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर (स्तिमितेन) स्थिर हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरणके द्वारा (क्षणं पश्यतः) क्षणमात्रके लिये अनुभव करने वाले जीवके (यत्) जो चिदानन्दस्वरूप (भाति) प्रतिभासित होता है । (तत्) वही (परमात्मनः) परमात्माका (तत्त्वं) स्वरूप है ।

भावार्थ—परमात्माका अनुभव प्राप्त करनेके लिये स्पर्शन, रसना, ध्वण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करनेसे रोककर मनको स्थिर करना चाहिये । अर्थात् उसे अन्तर्जलपादिस्वरूप संकल्प-विकल्पमें मुक्त करना चाहिये । ऐसा होनेपर जो अन्तरंगावलोकन किया जावेगा उसीसे शुद्ध चैतन्यमय परमात्मस्वरूपका अनुभव हो सकेगा । इन्द्रियों द्वारा ज्ञेयपदार्थोंमें भ्रमती हुई चित्तवृत्तिको रोके विना कुछ भी नहीं बनता । अतः आत्मानुभवके लिये उसे रोकनेका सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिये ॥ ३० ॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपं प्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कयाह—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः* कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

टीका—यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं । योऽहं यः स्वसं-
वेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा स परमः परमात्मा । ततो यतो मया सह पर-
मात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः । नान्यः कश्चिन्मयोपास्य
इति स्थितिः । एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था ॥ ३१ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

प्रच्याद्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।

बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वतम् ॥ ३२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि परमात्मस्वरूपको प्राप्ति किमकी आराधना
करने पर होगी—

अन्वयार्थ—(यः) जो (परात्मा) परमात्मा है (म एव) वह ही (अहं)
मैं हूँ तथा (यः) जो स्वानुभवगम्य (अहं) मैं हूँ (सः) वही (परमः) परमा-
त्मा है । (ततः) इमलिये—जब कि परमात्मा और आत्मामैं अभेद हैं
(अहं एव) मैं ही (मय) मेरे द्वारा (उपास्यः) उपासनाकिये जाने के योग्य
हूँ (कश्चित् अन्यः न) दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं, (इति स्थितिः) इस
प्रकार ही आराध्य-आराधक-भावकी व्यवस्था है ।

भावार्थ—जब यह अन्तरात्मा अपनेको मिद्द ममान शुद्ध, बुद्ध,
ज्ञाता, द्रष्टा अनुभव करता हुआ अभेद—भावनाके बलपर शुद्ध आत्म-
स्वरूपमें तन्मय हो जाता है तभी वह कर्मवन्धनको नष्ट करके परमात्मा
बन जाता है । अतएव सांसारिक दुःखोंमें छूटने अथवा दृढ़-बंधनसे मुक्त
होनेके लिये अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपासना किये जानेके योग्य है ॥३२॥

आगे इसी बातको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (मयि स्थितम्) अपनेहीमैं स्थित (बोधात्मानं)

* 'नान्यः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

टीका—मामात्मानमहं प्रपन्नोऽस्मि भवामि किं कृत्वा ? प्रन्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः ? विषयेभ्यः । केन कृत्वा ? मयैवात्मस्वरूपैव करणात्मना । क्व स्थितं माम् प्रपन्नोऽहं ? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम् । कथ-भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम् । पुनरपि कथभूतम् ? परमानन्द-निर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम् । अथवा परमानन्द-निर्वृतोऽहम् ॥ ३२ ॥

एवमात्मानं शरीणद्विज्ञं यो न जानाति तं प्रत्याह—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।

लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥ ३३ ॥

टीका—यः प्रतिपन्नो देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारं गण न वेत्ति ।

ज्ञानस्वरूप (परमानन्दनिर्वृतम्) परम आनन्द में परिपूर्ण (मां) अपनी आत्माको (विषयेभ्यः) पञ्चेन्द्रियों के विषयों में (प्रन्याव्य) छुड़ाकर (मया एव) अपने ही ढारा (प्रपन्नोऽस्मि) अस्वरूपको प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—जिस परमात्मपदके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है वह शक्ति रूप में इस आत्मामें ही मौजूद है; किन्तु उसकी व्यक्ति अथवा प्राप्ति इन्द्रियविषयोंमें विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्यका सुदृढ़ अभ्यास करनेमें होती है। इस लिये हमें चाहिये कि हम जीवन्मुक्त परमात्माके दिव्य उपदेशका मनन करके उनके नक्शे कदम पर चलें और उन जैसी वीतराग-ध्यानमयी शांत-मुद्रा बनकर चैतन्य जिनप्रतिमा बननेकी कोशिश करें तथा उनकी मौम्याकृतिरूप प्रतिविम्बका चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित करें। इस तरह आत्मस्वरूपके माध्यक कारणोंको उपयोगमें लाकर स्वयं ही परमात्मपद प्राप्त करें और निजानन्द-रमका पान करते हुए अनन्त काल तक अनन्त सुखमें मरन रहें ॥ ३२ ॥

इस प्रकार जो शरीरमें आत्माको भिन्न नहीं जानता है उसके प्रति कहते हैं:—

अन्वयार्थ—(एवं) उक्त प्रकारमें (यः) जो (अव्ययं) अविनाशी (अत्मानं) आत्माको (दंहात्) शरीरसै (परं न वेत्ति) भिन्न नहीं जानता है

किं विशिष्टम् ? अवव्ययं अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्त्रूपम् । स प्रतिपञ्चान्न
निर्वाणं लभते । किं कृत्वा ? तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमंतपः ॥ ३३ ॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं
निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृत्तः ।

तपसा दुष्कृतं घोरं भुज्ञानोऽपि न खिद्यते ॥ ३४ ॥

टीका—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावा-

(सः) वह (परमं तपः तप्त्वापि) घोरं तपश्चरण करके भी (निर्वाणं)
मोक्षको (न लभते) प्राप्त नहीं करता है ।

भावार्थ—संसारमें दुःखका मूल कारण आत्मज्ञानका अभाव है । जब
तक यह अज्ञान बना रहता है तब तक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता ।
इसी कारण जो पुरुष आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानता—
विमश्वर पुद्गल पिण्डमय शरीरको ही आत्मा जाना है—वह कितना ही
घोरं तपश्चरण क्यों न करे मुक्तिको नहीं पा सकता है; क्योंकि मुक्तिके
लिये जिससे मुक्त होना है और जिसको मुक्त होना है दोनोंका भेदज्ञान
आवश्यक है । जब मूलमें ही भूल हो तब तपश्चरण क्या सहायता पहुँचा
सकता है । ऐसे ही लोगोंकी मुक्तिउपासना बहुधा अन्य बाह्य पदार्थोंकी
तरह सांसारिक विषय-मुख्यका ही साधन बन जाती है और इस लिये
घोरातिघोरं तपश्चरणद्वारा शरीरको अनेक प्रकारके कष्ट देते और सुखाते
हुए भी वे कर्मबंधनसे छूट नहीं पाते, प्रस्तुत अपने उस बालं तपश्चरणके
कारण संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं । अतः आत्मज्ञानपूर्वक तपश्चरण
करना ही सार्थक और सिद्धिका कारण है । किसी कविने ठीक कहा—

“चेतन वित परिचय बिना, जप तप सर्वं निरथ ।

कण विन तुष जिम फटकते, कृत् न आवे हत्थ ॥ ३३॥

यदि कोई आशंका करे कि मुक्तिके लिये घोरं तपश्चरण करने वालोंके
महादुःखोंकी उत्पत्ति होती है और उस दुःखोत्पत्तिसे चित्तमें बराबर खेद
बना रहता है तब उनको मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसके उत्तरमें
कहते हैं—

अन्यर्थ—(आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृत्तः) आत्मा और शरीर-

ह्लादश्च परमप्रसन्निस्तेन निर्वृत्तः सुखीभूतः सन् । तपसा द्वादशविधेन
कृत्वा । दुष्कृतं घोरं भुज्ञानोऽपि दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि ।
न खिदते न खेदं गच्छति ॥ ३४ ॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं* नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

के भेद-विज्ञानमें उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह (तपसा) तपके द्वारा—द्वादश प्रकारके तपद्वारा उदयमें लाये हुए (घोरं दुष्कृतं) भयानक दुष्कर्माँके फलको (भुज्ञानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिदते) खेदको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—जिस समय इस जीवके अनुभवमें शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं, उस समय शारीरिक विषयसुन्दरोंके लिये पर-पदार्थकी सारी चिन्ताएं मिट जाती हैं, उसके फलस्वरूप आत्मा परमानन्दमें लीन हो जाता है—उसे दुःखका अनुभव ही नहीं होता। क्योंकि संसारमें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग और भूक-प्यासादिजन्य जितने भी दुःख हैं वे सब शरीर के आश्रित हैं—शरीरको आत्मा मानने से उन सब दुःखोंमें भाग लेना पड़ता है। जब भेद-विज्ञानके द्वारा शरीर-से ममत्व छूटकर आत्मा स्वरूपमें स्थिर हुआ आनन्दमग्न होजाता है तथ वह तपश्चरणके कष्टोंको महसूस नहीं करता और न तपश्चरणके अवसर पर आए हुए उपसर्गादिकांसे खेदखिन्न ही होता है। उसका आनन्द अवधित रहता है ॥ ३४ ॥

जिन्हें तपश्चरण करते हुए खेद होता है उन्हें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई ऐसा दर्शने हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यन्मनो जलम्) जिसका मनरूपी जल (रागद्वेषादि-कल्लोलैः) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादितरंगोंसे(अलोलं) पञ्चल नहीं होता (सः) वही पुरुष (आत्मनः तत्त्वम्) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (पश्यति) देखता है—अनुभव करता है (तत् तत्त्वम्) उस आत्मतत्त्वको

क्षततत्त्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके ।

टीका—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैलोलमचन्द्रलमकलुषं वा । यन्मनोजलं मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम् । स आत्मा । पश्यति । आत्मनस्तत्त्वमात्मनः स्वरूपम् । स तत्त्वम् । स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम् । नेतरो जनः [अन्यः अनात्मदर्शी जनः] तत्त्वं न भवति ॥ ३५ ॥

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोन्यत इत्याह—

**अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥**

(इतरो जनः) दूसरा रागद्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलितचित्त मनुष्य (न पश्यति) नहीं देख सकता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार तरंगित जलमें जलस्थित वस्तुका ठीक प्रनिभास नहीं होता—वह दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार रागद्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलित हुए मविकल्प मनद्वारा आत्माका दर्शन नहीं होता । आत्मदर्शनके लिये मनका निर्विकल्प बनाना होगा । चास्तवमें निर्विकल्प मन ही आत्मतत्त्व है—मविकल्प मन नहीं ॥ ३५ ॥

आगे इसी आत्मतत्त्वके वाच्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्तं) रागादि परिणनिमें रहित तथा शरीर और आत्माको एक माननेरूप मिथ्या अभिप्रायमें रहित जो स्वरूपमें स्थिर है (मनः) मन है वही (आत्मनः तत्त्वं) आत्माका वास्तविक स्वप है और (विक्षिप्तं) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्माके भैदज्ञानसे शून्य मन है वह (आत्मनः भ्रान्तिः) आत्माका विभ्रम है—आत्माका निजरूप नहीं है (ततः) इस लिये (तत् अविक्षिप्तं) उस रागद्वेषादिसे रहित मनको (धारयेत्) धारण करना चाहिये और (विक्षिप्तं) रागद्वेषादिसे ज्ञुञ्ज्ञ हुए मनको (न आश्रयेत्) आश्रय नहीं देना चाहिये ।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन, रागादिक विभावभावोंसे रहित होकर शरीरादिक बाह्य पदार्थों से आत्माको भिन्न चैतन्यमय एक

टीका—अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनां भेदाद्यवसाय-
परिवर्तेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम् । इत्यं भूतं मनः तत्त्वं वास्तवं
रूपमत्मनः । विक्षिप्तं उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिगतमस्वरूपं न भवति । यत
एवं तस्मात् धारयेत् । किं तत् ? मनः । कथम्भूतम् ? अविक्षिप्तं । विक्षिप्तं
पुनर्मत्त नाथ्रयेत् धारयेत् ॥ ३६ ॥

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

अविद्याभ्याससंस्कारेवशं क्षिप्यते मनः ।

तदेव ज्ञानसंस्करेः स्वतस्तत्त्वेवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

टीका—शरीगदौ शुचिस्थिगत्मीयादिज्ञानात्यविद्यास्तामाभ्यासः पुनः
पुनः प्रवृत्तिमत्तेन जनिताः संस्कार वासनामत्तेः कृत्वा । अवशं विषयेन्द्रिया-
धीनमनात्मायत्तमित्यर्थः । क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः । तदेव मनः ज्ञान-
संस्कारेणगतमनः शरीगदिभ्यां भैदज्ञानाभ्यासः । स्वतः स्वयमेव । तत्त्वं आत्म-

टंकोऽकोर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें
तत्त्वमय हो जाता है, उस समय उस अविक्षिप्त एवं निर्विकल्प मनको
'आत्मतत्त्व' समझना चाहिये । परन्तु जब उसप्रें विकल्प उठने लगते हैं
तब उसे आत्मतत्त्वन कहकर 'आत्मभ्रान्ति' कहना चाहिये । अतः आत्म-
लाभके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने मनको डांवांडोल न रखकर स्व-
रूपमें स्थिर करनेका दृढ़ प्रयत्न करें, क्योंकि मनकी अस्थिरता ही रागादि-
परिणतिका कारण है ॥ ३८ ॥

किस कारणसे भन विक्षिप्त होता है और किस कारणसे अविक्षिप्त,
आगे इसी बातको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारेः) शरीरादिकको शुचि, स्थिर और
आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप
अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (मनः) मन (ग्रन्थ) स्वाधीन न रह
कर (क्षिप्यते) विक्षिप्त हो जाता है—रग्गी द्वेषी बन जाता है और (तदेव)
वही मन (ज्ञानसंस्करेः) आत्म-देहके भैद विज्ञानरूप विद्याके संस्कारों द्वारा
(स्तृतः) स्वयं ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूपमें (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है ।

स्वरूपे अवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

चित्तस्य विक्षेपेऽविक्षेपेच फलं दर्शयन्नाह—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो तस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

टीका—अपमानां महत्ववंडुनं अवज्ञा च स आदिर्वेषां मदेष्वामात्मर्थ-
दीनां ते अपमानादयां भवन्ति । यस्य चेतसां विक्षेपो रागादिपरिणतिर्भवति ।
यस्य पुनश्चेतसो न क्षेपो विक्षेपा नामित । तस्य नापमानादयां भवन्ति ॥ ३८ ॥

अपमानादीनां चापगम उपायमाह—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपरिवनः ।

तदैव भावये स्वस्थमात्मानं शास्यतः क्षणात् ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मनके विक्षिप होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है और
उमके अविक्षिप रहनेका कारण है ज्ञानभ्यम । अनः परदृष्ट्यमें आप-
बुद्धि आदिरूप अज्ञानके संस्कारोंको हटाना चाहिये और स्वपरभैरविज्ञान-
के अभ्यासरूप ज्ञानके संस्कारोंको बढ़ाना चाहिये जिसमें स्वरूपकी उप-
लब्धि एवं आपस्वरूपमें स्थिति हो सके ॥ ३७ ॥

चित्तके विक्षिप और अविक्षिप होने पर फल विशेषको दर्शाते हुए
कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (विक्षेपः) रागादिरूप
परिणमन होता है (तस्य) उसीके (अपमानादयः) अपमानादिक होते हैं ।
(यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (क्षेपः न) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं
होता (तस्य) उमके (अपमानादयः न) अपमान-निरस्कारादि नहीं होने हैं ।

भावार्थ—जब तक चित्तमें राग द्वेषादिक विभावरूप कुमित संस्कारों-
का सम्बन्ध रहता है तभी तक मन माधारणसे भी बाह्य निमित्तोंको
पाकर कुभित हो जाता है और अमुक शुरुषने मेरा मान भंग किया,
अमुकने मेरा निरस्कार किया, मुझे नीचा दिखाया इत्यादि कल्पनाएं कर-
के दुःखित होता है । परन्तु जब विक्षेपका मूलकारण राग-द्वेष-मोह-भाव
दूर हो जाता है तब वह अपने अपमानादिको महसूस नहीं करता
और न उस प्रकारकी कल्पनाएं ही उसे सताती हैं ॥ ३८ ॥

टीका—मोहान्मोहनीयकर्मदयात् । यदा प्रजायेते उत्पद्येते । कौ ? गगद्वेषी । कम्य ? तपस्त्रिनः । तदैव रागद्वेषोदयकाल एव । आत्मानं स्वस्थं बाह्यविषयादृश्यावृत्तस्वरूपस्थं भावयेत् । शास्त्रत उपशमं गच्छतः । राग-द्वेषी । क्षणात् क्षणमात्रेण ॥ ३६ ॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।

बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेऽप्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

अब अपमानादिकके दूर करनेका उपाय बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यदा) जिस समय (तपस्त्रिनः) किसी तपस्त्री अन्तरात्माके (मोहत) मोहनीय कर्मके उदयसे (रागद्वेषो) राग और द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न हो जावें (तदा एव) उसी समय वह तपस्त्री (स्वस्थं आत्मानं) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको (भावयेत्) भावना करे । इसमें वे रागद्वेषादिक (क्षणात्) क्षणभरमें (शास्त्रतः) शांत हों जाने हैं ।

भावार्थ—इन राग, डेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिस्तुप कुभावोंकी उत्पन्निका मूल कारण अज्ञान है । शरीर और आत्माका भैदविज्ञान न होनेमें ही ये मनोविकार चित्तको निश्चल वृत्तिको चलायमान कर देते हैं । कुभावोंके विनाशका एकमात्र उपाय आत्मस्वरूपका चिंतन करना है । जैसे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके तापसे संतप्त हुए भानवके लिये शीतल जलका पान, स्नान, चन्दनादिकका लेप और वृक्षकी सघन छायाका आश्रय उसके उम नापको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार मोहरूपी सूर्यकी प्रचण्ड कषायरूपी किरणोंमें संतप्त हुए अन्तरात्माके लिये अपने शुद्ध स्वरूपका चिंतन ही उम नापसे छुड़ानेका एक मात्र उपाय है ॥ ३६ ॥

अब उन राग और द्वेषके विषय तथा विपक्षको दिखाने हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत्र काये) जिस शरीरमें (मुनेः) सुनिका—अन्तरात्माका (प्रेम) प्रेम-स्नेह है (ततः) उससे (बुद्ध्या) भैदविज्ञानके आधार पर

टीका—यत्रात्मीये परकीये वा काये । वा शरीरेन्द्रियविषयसद्बुतं । मुनेः प्रेम स्नेहः । ततः कथात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य । देहिनं आत्मानम् । क्या ? बुद्ध्या विवेकज्ञानेन । पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये । काये आत्मस्वरूपे । याजयेत् । क्या कृत्वा ? बुद्ध्या अन्तर्दृष्ट्या । ततः किं भवति ? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति ॥४०॥

तस्मिन्नाष्टे किं भवतीत्याह—

आत्मविभ्रंजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशास्यति ।

नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥ ४१ ॥

(देहिनम्) आत्माको (प्रच्याव्य) पृथक् करके (तदुत्तमे काये) उमः उत्तम चिदानन्दमयकायमें—आत्मस्वरूपमें (योजयेत्) लगावे । ऐसा करनेमें (प्रेम नश्यनि) बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयोंमें होनेवाला प्रेम नष्ट होजाता है ।

भावार्थ— जब तक इस जीवको अपने निजानन्दमय निराकुल शांत उपबनमें कीड़ा करनेका अवधर नहीं मिलता, तब तक ही यह जीव अस्थि, मांस और मल-मूत्रमें भरे हुए अपावन घृणित छो आदिके शरीरमें और अन्य पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें असत्त रहता है; किन्तु जब दर्शनमोहादिके उपशम, क्षय, क्षमोशममें इसके चित्तमें विवेकज्ञान जागृत होजाता है तब स्वपर स्वरूपका ज्ञायक होकर अपने ही प्रशान्त एवं निजानन्दमय सुधा रमका पान करने लगता है और बाह्य-इन्द्रियोंके पराधीन विषयोंको हेयममभ कर उदासीन होजाता है अथवा उनका सर्वथा स्थाग कर निर्ग्रीथ माधु बन जाता है और घोर तपश्चरणादिके द्वारा आत्माकी वास्तविक शुद्धि करके मच्चें स्वाधीन एवं अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

उम अमात्मक प्रेमके नष्ट होनेपर क्या होता है उमे बनलाते हैं—

अन्वयार्थ— (आत्मविभ्रंजं) शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होनेवाला (दुर्व) दुर्व कष्ट (आत्मज्ञानात्) शरीरादिमें भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे (प्रशास्यति) शांत होजाता है। अतएव जो पुरुष (तत्र) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें (अयतः)

टीका—आत्मविभ्रजं आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरगदावात्सेति ज्ञानं । तस्माज्ञातं यत् दुःखं तत्पशास्यति । कस्मात् ? आत्मज्ञानात् शरीरगदिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात् । ननु दुर्धरतपाऽनुष्ठानान्मुक्तिमिद्दे गतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—नेत्यादि । तत्र आत्मस्वरूपे अयताः अथत्पराः । न निर्वान्ति न निर्वाणं गच्छति सुखिनां वा न भवन्ति । कृत्वापि तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमं तपः दुर्धरानुष्ठानम् ॥ ४१ ॥

तत्त्वं कुर्वीणां बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं कर्गतीत्याह—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवान्त्कृति ।

उत्पन्नात्ममतिदेहे तत्त्वज्ञानो तत्त्वस्युतिम् ॥ ४२ ॥

टीका—देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा । अभिवाज्ञृति अभिलषति । किं तत् ? शुभं शरीरं । दिव्यांश्च उत्तमान् स्वर्गमम्बधिनां वा विषयान् ।

प्रयत्न नहीं करते वे (परम) उत्कृष्ट एवं दुर्दर (तपं) तपको (कृत्वापि) करके भी (न निर्वान्ति) निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं ।

भावार्थ—कर्मवंधनसे छूटनेके लिये आत्मज्ञानपूर्वक रुद्या हुआ इच्छा-निरोधस्थ नपश्चरण हो कार्यकारी है । आत्मज्ञानसे शूय केवल शरीरको कष्ट देने वाले नपश्चरण नपश्चरण नहीं हैं—संमारपरिभ्रान्तके हो कारण हैं । उनसे आत्मा कभी भी कर्मोंके वंधनमें छूट नहीं सकता और न स्वस्थपमें ही स्थिर हो सकता है । उसकी कष्ट परम्परा बढ़ती ही चली जाती है ॥ ४२ ॥

तपको करके बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मा क्या चाहता है, इसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीरमें जिसको आत्मव्यवहृति उत्पन्न होगई है ऐसा बहिरात्मा तप करके (शुभं शरीरं च) मुंदग शरीर और (दिव्यान् विषयान्) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्गके विषयभोगोंको (अभिवाज्ञृति) चाहता है और (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानी अन्तरात्मा (ततः) शरीर और तस्वर्थी विषयोंसे (स्युतिम्) छूटना चाहता है ।

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—तत्त्वज्ञानी तत्त्वस्युतिम् । तत्त्वज्ञानी विवेकी
अन्तरात्मा । ततः शरीरादेः । च्युतिं व्यावृत्ति मुक्तिरूपां अभिवाज्ञति ॥ ४२ ॥
तत्त्वज्ञानीतयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वे दर्शयन्नाह—

परत्राहम्मतिः स्वस्मान्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।

स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

टीका—पग्न शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा । स्वस्मादात्मस्व-
रूपात् । च्युतो भ्रष्टः सन् । बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं । असं-
शयं यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः । स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मतिः
बुद्धोऽन्तरात्मा । परस्मान्द्विरागदेः । च्युत्वा पृथग्भूत्वा । मुच्यते सकलकर्म-
बन्धगहितां भवति ॥ ४३ ॥

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा स्वर्गादिककी प्राप्तिको ही परमपदकी
प्राप्ति मालाभना है और इसी लिये स्वर्गादिकके मिलनेको लालमासे पंचाग्नि
आदि शरीरको क्षेत्र देने वाले तप करता है । प्रत्युत इसके, आत्मज्ञानी
अन्तरात्माको ऐसा धारणा नहीं होता, वह सामाजिक विषयभोगोंमें
अपना ज्वार्थ नहीं देखता—उन्हें दुःखदाई और कष्टकर जानता है—और
हम लिये इन देहभोगोंमें ममत्व छोड़कर दुधर तपश्चरण करता हुआ
शरीरादिकमें आत्माको भिन्न करनेका परम यन्त्र करता है—तपश्चरणके
द्वारा इन्द्रिय और कपायों पर विजय पाकर अपने ध्येयको मिद्दि कर लेता
है ॥ ४२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्मबन्धनका
कर्ता कौन है—

अन्वयार्थ—(परत्राहम्मतिः) शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि
हो रही है ऐसा बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूपसे (च्युतः) भ्रष्ट
हुआ (असंशयम्) निःमन्देह (बध्नाति) अपनेको कर्म बन्धनसे बद्ध करता
है और (स्वस्मिन्नहम्मतिः) अपने आत्माके स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि रखने
वाला (बुधः) अन्तरात्मा (परस्मात्) शरीरादिक परके सम्बंधसे (च्युत्वा)
च्युत होकर (मुच्यते) कर्म बन्धनसे छूट जाता है ।

भावार्थ—बन्धका कारण वास्तवमें रागादिकभाव है और वह तभी

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्म-
नस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।

इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥ ४४ ॥

ठीका—दृश्यमानं शरीरादिकं । किं विशिष्टं ? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुं-
पुंसकलज्ञगानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत् । मूढो बहि-
रात्मा । इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन । यः
पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते । न पुनस्त्रिलिङ्गतया ।
तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ?
निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽगोचरम् ॥ ४४ ॥

बनता है जब आत्मा अपने स्वरूपका ठीक अनुभव नहीं करता—उसे
भूल कर शरीरादिक पर-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है । अन्तरात्मा
चूंकि अपने आत्मस्वरूपका ज्ञाना होता है, इससे वह अपने आत्मासे
भिन्न दूसरे पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण नहीं करता—फलतः उसकी पर-
पदार्थोंमें कोई आसक्ति नहीं होती । इसीसे वह कर्मोंके बंधनसे नहीं
बंधता, किन्तु उससे छूट जाता है ॥ ४५ ॥

बहिरात्माकी जिस पदार्थमें आत्मबुद्धि हो गई है उसे वह कैसा
मानता है और अन्तरात्मा की जिसमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसे
वह कैसा अनुभव करता है, आगे इसी आशंकाका निरसन करते हुए
कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (इदं दृश्यमानं) इस दिखाई
देने वाले शरीरको (त्रिलिंगं अवबुध्यते) स्त्री-पुरुष-नपुंसकके भेदसे यह
आत्मतत्त्व त्रिलिङ्ग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु (अवबुद्धः) आत्मज्ञानी
अंतरात्मा (इदं) यह आत्मतत्त्व है—त्रिलिङ्गरूप आत्मतत्त्वन ही है और
वह (निष्पन्नं) अनादि संसिद्ध है तथा (शब्दवर्जितम्) नामादिक
विकल्पोंसे रहित है (इति) ऐसा समझता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नहीं

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपाद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहमित्यादि-
रूपं तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।

पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥ ४५ ॥

टीका—आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि । तथा विविक्तं शरीरादिभ्यां-
भिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये । भूयोऽपि पुनरपि ।
भ्रांतिं गच्छति । कस्मात् ? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्था-
भावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारे वासना तस्मात् ॥ ४५ ॥

होती, इस लिये वह स्त्रो पुरुष न पुंमकरूप त्रिलिङ्गात्मक शरीरको ही आत्मा
मानता है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपका ज्ञाना है और उसे शरीरसे भिन्न
चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है, इसलिये वह अपने आत्मा
को नद्रूप ही अनुभव कहता है—त्रिलिङ्गरूप नहीं—और उसे अनादि-
मिद्द तथा निर्विकल्प समझता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई कहे कि जब अन्तरात्मा इस तरहसे आत्माका अनुभव
करता है तो फिर मैं पुरुष हूँ, मैं गोरा हूँ इत्यादि अभेदस्वपकी भ्रांति
उसे कैसे हो जाती है, इसका उत्तर देने हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ—अन्तरात्मा (आत्मनः तत्त्वं) अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य
स्वरूपको (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्तं भावयन् अपि) और
शरीरादिक अन्य पर-पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी (पूर्वविभ्रम-
संस्कारात्) पहली बहिरात्मावस्थामें होने वाली भ्रांतिके संस्कारवश
(भूयोऽपि) पुनरपि (भ्रांतिं गच्छति) भ्रांतिको प्राप्त होजाता है ।**

**भावार्थ—यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको
जानता है और उसे शरीरादिक पर-द्रव्योंसे भिन्न अनुभव भी करता है
फिर भी बहिरात्मावस्थाके चिरकालीन संस्कारोंके जागृत हो उठनेके
कारण कभी कभी बात्य पदार्थोंमें उसे एकम्बका भ्रम हो जाता है ।
इसीसे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतना के साथ कदाचित् कर्म-चेतना
व कर्मफल-चेतनाका भी सद्ग्राव माना गया है ॥ ४५ ॥**

भूयो भ्रान्ति गतोऽसौ कथं तां त्यजेदित्याह—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।

क रुष्यामि क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

टीका—इदं शरीगदिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं । अचेतनं जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानातीत्यर्थः । यच्चेतनमात्मस्वरूपं तददृश्यमिन्द्रिय-ग्राह्यं न भवति । ततः यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीगदिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः । क रुष्यामि क तुष्याम्यहं । अतः यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते अतः मध्यस्थः उदासीनो-ऽहं भवामि ॥ ४६ ॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागांपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

त्यागादाने बहिमूर्ढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।

पुनः भ्रान्ति को प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रान्ति को फिर कैसे छोड़े ?
इसे बतलाने हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा नष्ट अपनी विचार-परिणामिको इस रूप करे कि—(इदं दृश्य) यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ-समूह है वह सब (अचेतन) चेतनारहित-जड़ है और जो (चेतन) चैतन्यस्वरूप आत्म-ममूह है वह (अदृश्य) इन्द्रियोंके द्वारा दिव्याई नहीं पड़ता (ततः) इसलिये (क रुष्यामि) मैं किस पर नो क्रोध करूं और (क तुष्यामि) किस पर संतोष व्यक्त करूं ? (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) ऐसो हालतमें मैं तो अब राग-द्वेषके परिम्यागरूप मध्यस्थभावको धारण करता हूँ ।

भाशार्थ—अन्तरात्माको अपने अनाशविद्यारूप भ्रान्त संस्कारों पर विजय प्राप्त करने के लिये सदा ही यह विचार करते रहना चाहिये कि जिन पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देख रहा हूँ वे सब तो जड़ हैं—चेतना रहित हैं उनपर रोष-तोष करना व्यर्थ है—वे उसे कुछ समझ ही नहीं सकते—और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे मुझे दिव्याई नहीं पड़ते—वे मेरे रोष-तोषका विषय ही नहीं हो सकते । अनः मुझे किसीमे राग-द्वेष न रख कर मध्यस्थ भावका हो अबलम्बन लेना चाहिये ॥ ४६ ॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माके स्थाग ग्रहण विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥ ४७ ॥

टीका—मूढ़ा बहिरात्मा त्यागोपादाने करति । कै ? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करति रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेहपादानमिति । आत्मदित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागोपादाने करति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषदेवन्तर्जल्पविकल्पादेवा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तुनिष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा ।

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

अन्वयार्थ—(मूढः) सूर्व बहिरात्मा (बहिः) बाह्यपद शौकः (त्यागादाने करति) त्याग और ग्रहण करना है अर्गत् द्वेषके उदयसे जिनको अनिष्ट ममझना है उनको छोड़ देना है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट ममझना है उन्हें ग्रहण कर लेना है, तथा (आत्मदित्) आत्माके स्वरूपका ज्ञाना अन्तरात्मा (अध्यात्मं त्यागादाने करति) अन्तरंग राग द्वेषका त्याग करता है और अपने मम्यगदर्शन मम्यज्ञान मम्यकृचारित्रस्य निजभावोंका ग्रहण करता है । परन्तु (निष्ठितात्मनः) शुद्धस्वरूपमें स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके (अन्तः बहिः) अन्तरंग और बहिरंग किसी भी वदार्थका (न त्यागः) न तो त्याग होता है और (न उपादान) न ग्रहण होता है ।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव मोहोदयसे जिन बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करता है उन्होंमें त्याग और ग्रहणकी क्रिया क्रिया करता है । अन्तरात्मा वस्तुस्थितिका जानने वाला होकर वैसा नहीं करता—वह बाह्य पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अतरंगमें ही त्याग-ग्रहणको प्रवृत्ति क्रिया करता है—रागादिकषाय भावोंको छोड़ता है और अपने शुद्ध चैतन्यरूपको अपनाता है । परन्तु परमात्माके कृत-कृत्य हो जानेके लालए, बाह्य हो या अन्तरंग किसी भी विषयमें त्याग और ग्रहणको प्रवृत्ति नहीं होती । वे तो अपने शुद्धस्वरूपमें मदा स्थिर रहते हैं ॥ ४७ ॥

अन्तरात्मा अन्तरंगका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे, उसे बतलाते हैं—

युज्ञीत मनसा इत्मानं वाककायाभ्यां वियोजयेत् ।

मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाककाययोजितम् ॥ ४८ ॥

टीका—आत्मानं युज्ञीत सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? मनमा मानस-ज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । वाककायाभ्यां तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाककाययोगात्मभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वणो व्यवहारं तु प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा । वाककाययोजितं वाककायाभ्यां योजितं सम्पादितं । केन सह ? मनसा सह मनस्यारोपितं व्यवहारं त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत् ।

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाककायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागा युक्त इत्याह—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रस्यमेव च ।

अन्वयार्थ—(आत्मानं) आत्माको (मनमा) मनके साथ (युज्ञीत) सयोजित करे—चित्त और आत्माका अभैदरूपमे अध्यवसाय करे (वाककायाभ्यां) वचन और कायमे (वियोजयेत्) अलग करे—उन्हें आत्मा न समझे (तु) और (वाककाययोजितम्) वचन-कायसे किये हुए (व्यवहारं) व्यवहारको (मनसा) मनसे (त्यजेत्) छोड़ देवे---उसमें चित्तको न लगावे ।

भावार्थ—अन्तरंग रागादिकका त्याग और आत्मगुणोंका ग्रहण करनेके लिये अन्तरात्माको चाहिये, कि वह आत्माको मानसज्ञानके साथ तन्मय करे और वचन तथा कायके सर्वकायोंको छोड़कर आत्मचित्तनमें तल्लीन हो जावे । यदि प्रयोजनवश वचन और कायको किया करनी भी पड़े तो उसे उदासीनभावके साथ अस्त्रि-पूर्वक कङ्खी दबाई पीनेवाले रोगोंकी तरह अनासक्तिसे करे ॥ ४८ ॥

यदि कोई कहे कि पुत्र स्त्री आदिके साथ वचनव्यवहार और शरीर-व्यवहार करते हुए तो सुख प्रनीत होता है, फिर उस व्यवहारका त्याग करना कैसे युक्ति युक्त कहा जा सकता है ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं—

स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४६ ॥

टीका—देहात्मदृष्टीनां बहिरात्मनां जगत् पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो विश्वास्यमवश्चकं । रम्यमेव च रमणीयमेव प्रतिभाति । स्वात्मन्येव स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां । क्व विश्वासः क्व वा रतिः ? न कापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

नत्वेवमाहारादावप्यन्तगत्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।

कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टीनां) शरीरमें आत्मदृष्टि रमने वाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओंको (जगत्) यह स्त्री-पुत्र मित्रादिका समूहरूपसमार (विश्वास्य) विश्वासके योग्य (च) और (गम्यं एव) रमणीय हो मालूम पड़ता है । परन्तु (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां) अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको (क्व विश्वासः) इन स्त्री-पुत्रादि परपदार्थोंमें कहां विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कहां आसक्ति हो सकती है ? कहीं भी नहीं ।

भावार्थ—जब तक अपने परमानन्दमय चैतन्य स्वरूपका योध न होकर इन संसारी जीवोंको देहमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तब तक इन्हें यह स्त्री-पुत्रादिका समूह अपनेको आत्मस्वरूपसे बंधित रमने वाला ठग-समूह प्रतीत नहीं होता, किन्तु विश्वमनीय, रमणीय और उपकारा जान पड़ता है । परन्तु जिन्हें आत्माका परिज्ञान होकर अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उनकी दशा इनसे विपरीत होती है—वे इन स्त्री-पुत्रादिको ‘आत्मरूपके चार चपल ये दुर्गति-पन्थ सहाई’ समझने लगते हैं,—किसीको भी अपना आत्मसमर्पण नहीं करते और न किसीमें आसक्त ही होते हैं ॥ ४६ ॥

यदि ऐसा है तो फिर अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्म-

टीका— चिरं बहुतरं कालं बुद्धौ न धारयेत् । किं तत् ? कार्यं । कथम्भूतम् ? परमन्यत् । कस्मात् ? आत्मज्ञानात् । आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः । परमपिकिन्निद्वाक् शायाभ्यां कुर्यात् । कस्मात् ? अर्थवशात् स्वपर्गोपकारलक्षणप्रयोजनवशात् । किं विशिष्टः ? अतत्परस्तदनासत्तः ॥ ५० ॥

तदनासत्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धायेन्नशरीगदिकमित्याह—

यस्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।

अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जानमें भिन्न दूसरे (कार्य) कायंको (चिरं) अधिक मन्यता (बुद्धौ) अपनो बुद्धिमें (न धारयेत्) धारण नहीं करे । यदि (अर्थवशात्) स्वपरके उपकारादरूप प्रयोजनके बश (वाक्कायाभ्यां) बचन और कायमें (किञ्चित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े तो उसे (अतत्परः) अनासत्त होकर (कुर्यात्) करे ।

भावार्थ—आ महितके इच्छुक अन्तरात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न भ्रमाकर अपना अधिक मन्य आत्मचिन्तनमें ही लगावें । यदि स्वपरके उपकारादिवश उन्हें बचन और कायमें कोई कायं करना हो पड़े तो उसेवे अनासत्त प्रवक्त करें—उसमें अपने चिन्तको अधिक न लगावें । ऐसा करनेमें वे अपने आत्मस्वरूपमें चयुत नहीं हो सकेंगे और न उनकी शान्ति हो भंग हो सकेंगी ॥ ५० ॥

अनासत्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण करे—शरीरादिको नहीं, यह कैसे हो सकता है ? उसे बतलाने हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको विचारना चाहिये कि (यत्) जो कुछ शरीरगदि वाल्य पदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंके द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ । (तत्) वह (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है, किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियोंको वाल्य विषयोंसे रोककर स्वाधीन करता हुआ मैं (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अनीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञान प्रकाशको (अन्तः) अंतरंगमें (पश्यामि) देखता हूँ—अनुभव करता हूँ (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्व-

टीका—यन्त्रुगीगदिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति मदीयं रूपं तन्म
भवति । तर्हि किं तव स्वप्नम् ? तदम्तु ज्योतिरुत्तमं ज्योतिर्ज्ञानमुत्तमती-
न्द्रियम् । तथा सानन्दं परमप्रमत्तिसङ्गूत्सुखसमन्वितम् । एवं विधं ज्योति-
र्गतः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वस्वप्नमम्तु भवतु । किं विशिष्टः
पश्यामि ? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

तनु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनांरूपं स्यात्तेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः
कथं दुःखं स्यादित्याह—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।

बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥ ५२ ॥

रूप (अप्तु) होना चाहिये ।

भावार्थ—जब अन्तरात्मा भैदज्ञानकी हृषिमे इन्द्रियगोचरबाद्य शरी-
रादि पदार्थोंका अपना स्वप्न नहीं मानता किन्तु उस परमानन्दमय अनी-
न्द्रिय ज्ञानप्रकाशको ही अपना स्वस्वप्न ममभने लगता है जिसे वह
इन्द्रिय व्यापारको रोक कर अन्तरंगमें अवलोकन करता है, तब उसका
मन सहज ही में शरीरादि बाद्य पदार्थोंमें हट जाता है—वह उनको
आराधना नहीं करता किन्तु अपने उक्त स्वस्वप्नका ही आराधन किया
करता है—उसीको अधिकांशमें अपनी बुद्धिका विषय बनाये रखता
है ॥ ५१ ॥

यदि आनन्दमयज्ञान ही आत्माका स्वस्वप्न है तो इन्द्रियोंको रोककर
आत्मानुभव करने वालेको दुःख कैसे होना है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(शारब्धयोगस्य) जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना
अभी शुरू किया है उस मनुष्यको—अपने पुराने संस्कारोंकी वजहसे
(बहिः) बाद्य विषयोंमें (सुख) सुख मालूम होता है (अथ) प्रस्तुत इसके
(अत्मनि) आत्मस्वस्वप्नकी भावनामें (दुःख) दुःख प्रतीत होता है । किन्तु
(भावितात्मनः) यथावत् आत्मस्वस्वप्नको जानकर उसकी भावनाके अच्छे
अभ्यासीको (बहिः एव) बाद्य विषयोंमें ही (असुख) दुःख जान पड़ता है
और (अव्यात्म) अपने आत्माके स्वस्वप्नचिन्तनमें ही (सौख्यम्) सुखका

टीका—बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति । कस्य ? आरब्धयोगस्य प्रथम-
आत्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । अथ आहो । आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य
भवति । भावितात्मनां यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । बहिरेव वाह्य-
विषयेष्वेवाऽमुखं भवति । अथ आहो । सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप
एव भवति ॥ ५२ ॥

तद्वावनाचेत्थं कुर्यादित्याह—

तद्वृयात्त्वरात् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत् ॥ ५३ ॥

अनुभव होता है ।

भावार्थ—वास्तवमें आत्मानुभवन तो सुखका ही कारण है और
इन्द्रिय-विषयानुभवन' दुःखका; परन्तु जिन्हें अपने आत्माका यथेष्ट ज्ञान
नहीं हुआ, जो अपने वास्तविक सुखस्वरूपको पहचानते ही नहीं और
जिन्होंने आत्मभावनाका अभ्यास अभी प्रारंभ ही किया है उन्हें अपने
इन्द्रिय-विषयोंका निरोधकर आत्मानुभवन करनेमें कुछ कष्ट जरूर होता
है और पूर्व मंसकारोंके वश विषय-सुख रहता भी है, जो बहुत कुछ
स्वाभाविक हा है। आत्मासी भावना करते करते जब किसीका अभ्यास
परिपक्व होजाता है और यह सुट्ट निश्चय होजाता है कि सुख मेरे
आत्माका ही स्वरूप है—वह आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें कहीं भी
नहीं है, तब उसकी हालत पलट जाती है—वह अपने आत्मस्वरूपके
चिन्तनमेंही परमसुखका अनुभव करने लगता है और उसे वाह्य इन्द्रिय-
विषय दुःखकारी तथा आत्मविस्मृतिके कारण जान पड़ते हैं, और इस
लिये वह उनसे अलग अथवा अलिप्त रहना चाहता है ॥ ५२ ॥

अब वह आत्मस्वरूपको भावना किस तरह करनी चाहिये उसे
बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तत् ब्रूयात्) उस आत्मस्वरूपका कथन करे—उसे दूसरों-
को बतलावे (तत् परान् पृच्छेत्) उस आत्मस्वरूपको दूसरे आत्मानुभवी
पुरुषोंसे—विशेष ज्ञानियोंसे—पूछे (तत् इच्छेत्) उस आत्मस्वरूपकी इच्छा
करे—उसकी प्राप्तिको अपना इष्ट बनाए और (तत्परः भवेत्) उस आत्म-

टीका—तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत् । तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्मस्वरूपान् पृच्छेत् । तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत् परमार्थतः सन् मन्येत् । तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनादरपरो भवेत् । येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन । अविद्यामयं स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम् । त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं परमात्मस्वरूपं ब्रजेत् ॥ ५३ ॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तम्यात्मनोऽसम्भवात् तद्ब्रूयादित्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरोरयोः ।

भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तन्वं पृथगेषांनिवृद्ध्यते ॥ ५४ ॥

स्वरूपकी भावनामें मात्रधान हुआ आदर बढ़ावे (येन) जिसमें (अविद्यामयं रूपं) यह अज्ञानमय बहिरात्मस्वर (त्यक्त्वा) दूर कर (विद्यामयं ब्रजेत्) ज्ञानमय परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे ।

भावार्थ—किसीका इकलौता प्रियपुत्र यदि खोजावे अथवा विना कहे घरमें निकल जावे तो वह मनुष्य जिस प्रकार उसकी दूर होज करता है, दूसरों पर उसके खोजानेकी बात प्रकट करता है, जानकारोंने पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या? उसे पाजानेकी तीव्र इच्छा रखता है और बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी बाट देखता रहता है—एक मिनटके लिये भी उसका एक उसके चित्तमें नहीं उतरता। उसी प्रकार आत्मस्वरूपके जिज्ञासुओं तथा उसकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिये कि वे बराबर आत्मस्वरूपकी खोजके लिये दूसरोंसे आत्मस्वरूपकी ही बात किया करें, विशेष ज्ञानियोंमें आत्माकी विशेषताओंको पूछा करें, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी निरन्तर भावना भागें और एक मात्र उसी में अपनी लौ लगाये रखें। ऐसा होनेपर उनकी अज्ञानदशा दूर हो जायगी—बहिरात्मावस्था मिट जायगी और वे परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥ ५४ ॥

यदि कोई कहे कि बाणी और शरीरमें भिन्न तो आत्माका कोई अलग अस्तित्व है नहीं, तब आत्माको चर्चा करे—भावना करे इत्यादि कहना युक्त नहीं, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

टीका—सन्धते आगेपयति । कं आत्मानम् । क्व ? शरोरे वाचि च । काऽमौ ? वाक्शरीयाभ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा । तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा पुनः एतेषां वाक्-शरीरात्मनां तत्त्वं स्वरूपं पृथक् परस्परभिन्नं निबुद्धयते निश्चिनोति ॥५४॥

एवमवबुद्धयमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वामक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्स्योपकारकमस्तीत्याह—

न तदस्तोन्द्रियार्थेषु यत्त्वेमङ्गरमात्मनः ।
तथापि रमते वालस्त्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयोः भ्रान्तः) वचन और शरीरमें जिसकी आन्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा (वाचि शरीरे च) वचन और शरीर में—(आत्मानं सन्धते) आत्माका आगेपण करता है अर्थात् वचनको तथा शरीरको अस्ता मानता है (पुनः) किन्तु (अभ्रान्तः) वचन और शरीरमें आत्माकी आन्ति न रम्बने वाला ज्ञानो पुष्ट (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचनके स्वरूपको (पृथक्) आत्माने भिन्न (निबुद्धयते) जानता है ।

भावार्थ—वास्तवमें शरीर और वचन पुद्गलको रचना हैं, मूर्तिक हैं, जड़ हैं, आत्मस्वरूपमें विलक्षण हैं । इनमें आत्मबुद्धि रम्बना अज्ञान है । किन्तु बहिरात्मा चिर मिथ्यात्वरूप कुमंस्कारोंके वश होकर इन्हें आत्मा समझता है, जोकि उसका भ्रम है । अन्तरभान्तों जड़ और चैतन्यके स्वरूपका यथार्थ दोध होता है, इसमें शरीरादिकमें उसकी आत्मपनेकी आन्ति नहीं होती—वह शरीरको शरीर वचनको वचन और आत्माको आत्मा समझता है, एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं ॥ ५४ ॥

इस प्रकार आत्मस्वरूपको न समझने वाला बहिरात्मा जिन बास्तविषयोंमें आमक्तचित्त होता है उनमें से कोई भी उसका उपकारक नहीं है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु) पांचों इन्द्रियोंके विषयमें (तत्) ऐसा कोई पदार्थ (न अस्ति) नहीं है (यत्) जो (आत्मनः) आत्माका (क्षेमंकरं) भला

टीका—इन्द्रियार्थेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु मध्ये न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमद्वारम् । कस्य ? आत्मनः । तथापि यद्यपि क्षेमद्वारं किञ्चिन्नास्ति । रमते रति करोति । कोऽसौ ? बालो बहिरात्मा तत्रैव इन्द्रियार्थेष्वेव । कस्मात् ? अज्ञानभावनात् मिथ्यात्वसंस्कारवशात् । अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात् ॥ ५५ ॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मनो भवन्तीत्याह—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

करने वाला हो । (तथापि) तो भी (बालः) यह अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) चिरकालान मिथ्यात्वके संस्कारवश (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंमें (गमते) आमत्तु रहता है ।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ये पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय क्षणभंगुर हैं, पराधीन हैं, विषम हैं, अंधके कारण हैं, दुःखरूप हैं और बाधामहित हैं—कोई भी इनमें आत्माके लिये सुखकर नहीं; फिर भी यह अज्ञानी जोव उन्हींसे प्राप्ति करना है, उन्हींकी सम्प्राप्तिमें लगा रहता है और रातदिन उन्हींका राग आलापता है । यह सब अज्ञानभावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्वसंस्कारका ही माहात्म्य है ॥ ५५ ॥

उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश बहिरात्माओंकी दशा किस प्रकारकी होती है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढात्मनः) ये सूर्ख अज्ञानी जीव (तमसि) मिथ्यात्वरूपी अंधकारके उदयवश (चिरं) अनादि कालमें (कुयोनिषु) नित्यनिगोदादिक कुयोनियोंमें (सुपुताः) सो रहे हैं—अतीव जडता को प्राप्त हो रहे हैं । यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (अनात्मीयात्मभूतेषु मम श्रहम्) अनात्मायभूत स्त्री पुत्रादिकमें ‘ये मेरे हैं’ और अनात्मभूत शरीरादिकोंमें ‘मैं ही इन रूप हूँ’ (इति जाग्रति) ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं ।

टीका—चिरमनादिकालं मूढात्मानो बहिरात्मानः सुषुप्ता अतीव जडतां गताः । केषु ? कुयांनिषु नित्यनिगांदादिचतुरशीतिलक्षणांनिष्वधिकरणभूतेषु । कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? तमसि अनादिमिथ्यात्वसंस्करे सति । एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिष्पूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा ममाहमिति जाग्रति । केषु ? अनात्मीयात्मभूतेषु—अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिपु ममैते इति जाग्रति अध्यवस्थ्यन्ति । अनात्मभूतेषु शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवस्थ्यन्ति ॥ ५६ ॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे[‡] व्यवस्थितः ॥५७॥

भावार्थ—नित्य निगोदादिक निद्य पर्यायोंमें यह जीव ज्ञानकी अन्तर्नन्त हीनतावश चिरकाल तक दुख भोगता है । कदाचित् संज्ञी पञ्चनिद्य-पर्याय प्राप्त कर कुछ थोड़ा मा ज्ञान लाभ करना भी है तो अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्करणश जो आत्मीय नहीं ऐसे स्त्री-पुत्रादिकों ये मेरे हैं ऐसे आत्मीय मानकर और जो आत्मभूत नहीं ऐसे शरीरादिको ‘यह मैं ही हूँ’ ऐसे आत्मभूत मानकर अहंकार ममकारके चक्करमें फंस जाना है और उमके फलस्वरूप राग छेषको बढ़ाना हुआ संसार-परिभ्रमण कर महादुःखिन होता है ॥ ५६ ॥

अतः बहिरात्म-भावका परियाग कर अपने तथा परके शरीरको इस रूपमें अबलोकन करे, ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि (आत्मतत्त्वे) अपने आत्मस्वरूपमें (व्यवस्थितः) स्थित होकर (आत्मनःदेहं) अपने शरीरको (अनात्मचेतसा) ‘यह शरीर मेरा आत्मा नहीं’ ऐसी अनात्मबुद्धिसे (निरन्तरं पश्येत्) सदा देखे—अनुभव करे, और (अन्येषां) दूसरे प्राणियोंके शरीरको (अपरात्मधिया) ‘यह शरीर परका आत्मा नहीं’ ऐसी अनात्मबुद्धिमे (पश्येत्) सदा अबलोकन करे ।

[‡] ‘आत्मतत्त्वव्यवस्थितः’ इति पाठान्तरं ‘ग’ प्रतौ ।

टीका—आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा ममात्मा न भवतीति बुद्ध्या अन्तरात्मा पश्येत् । निरन्तरं सर्वदा । तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्ध्या पश्येत् । किं विशिष्टः ? आत्मतत्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥ ५७ ॥

नन्देवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभृय मूढात्मानां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्वति वदन्तं प्रत्याह—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।

मूढात्मानस्ततस्तेषां त्रुथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ ५८ ॥

भावार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि पदार्थके स्वरूपको जैमाका तमा जाने, अन्यमें अन्यका आरोपण न करे। अनादिकालमें आत्माकी शरीरके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है, उनका मोह दूर होना कठिन जानकर आचार्य-महोदय बार बार अनेक युक्तियोंमें उसी बातको ममझाकर बतलाते हैं—उनका अभिप्राय यही है कि संयुक्त होने पर भी विवक्षा भैदमें, पुङ्गलको पुङ्गल और आत्माको आत्मा ममझना चाहिये तथा कर्मकृत औपाधिक भावों को कर्मकृत ही मानना चाहिये—आत्माके निजरूप न समझ लेना चाहिये। आत्माका किसी शरीररूप विभाव पर्यायमें स्थिर होना उमर्की कर्मोपाधि-जनित अवस्था है—व्यभाव नहीं। शरीरको आत्मामानना ग्रहको ग्रहचारी अथवा वस्त्रको वस्त्रधारी माननेके ममान श्रम है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके जाना म-पुरुष (स्वानुभवमग्न अन्तरात्मा) मूढात्माओं (जडबुद्धिमोंको) आत्मतत्त्व क्यों नहीं बतलाते, जिसमें वे भी आत्मस्वरूपके ज्ञायक बनें, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारना है कि (यथा) जैसे (मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (अज्ञापितं) बिना बताये हुए (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) बतलाये जानेपर भी नहीं जानते हैं । (ततः) इस लिये (तेषां) उन मूढ परूषोंको (मे ज्ञापनश्रमः) मेरा बतलानेका परिश्रम (त्रुथा)व्यर्थ है, निष्फल है।

टीका—मूढात्मनो मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात् । तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति । ततः सर्वथा परिज्ञानाभावात् । तेषां मूढात्मनां सम्बन्धित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमां विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥ ५८ ॥

किंच—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।

ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

टीका—यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि । तन्नाहं तत्त्वयं नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतां भवामि ।

भावार्थ—जो ज्ञानी जीव अन्तर्मुखा होते हैं वे याद्य विषयोंमें अपने चित्तको अधिक नहीं भ्रमाते—उन्हें तो अपने आत्माके चिन्तन और मननमें लगे रहना ही अधिक रुचिकर होता है । मूढात्माओंके साथ आत्मविषयमें मगज़-पच्चो करना उन्हें नहीं भावा । वे इस प्रकार जड़ात्मा ओंके साथ टक्कर मारनेके अपने परिश्रमको व्यर्थ समझते हैं और समझते हैं कि इस तरह मूढात्माओंके साथ उलझेरहकर कितने ही ज्ञानोजन अपने आत्महित-साधनसे बंचित रह जाते हैं । आत्महित साधन सर्वोपरि मुख्य है, उसे इधर-उधरके चक्करमें पड़कर भुजाना नहीं चाहिये ॥५८॥

और भी वह अन्तरात्मा विचारता है—

अन्वयार्थ—(यत्) जिम विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको (बोधयितुं) समझाने-वुभानेकी (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ (तत्) वह (अहं) मैं नहीं हूँ—आत्माका वस्त्रविक स्वरूप नहीं हूँ । (पुनः) और (यत्) जो—ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (अहं) मैं हूँ (तदपि) वह भो (अन्यस्य) दूसरे जीवोंके(ग्राह्यं) न) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह तो स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव किया जाता है (तत्) इस लिये(अन्यस्य) दूसरे जीवोंको (किं बोधये) मैं क्या समझाऊँ?

यदहं पुनः यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं । तदपि ग्राह्यं
नान्यस्य स्वसंवेदनेन तदनुभूयते इत्यर्थः । तत्किमन्यस्य बोधये तत्स्मातिं
किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेहम् ॥ ५६ ॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिगत्मनो न तत्रानुगगः सम्भवति । मोहो-
दयात्तस्य बहिरर्थं एवानुरागदिति दर्शयन्नाह—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।

तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिव्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

टीका—बहिः शरीगद्यर्थं तुष्यति प्रीति करोति । काङ्गमी ? मूढात्मा ।
कथम्भूतः ? पिहितज्योतिमीहाभिभूतज्ञानः । कव ? अन्तरे अन्तस्तत्त्व-

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा अपने उपदेशकी व्यर्थताको मोचना
हुआ पुनः विचारता है फि—जिस अन्तरात्मको शब्दों द्वारा मैं दूसरोंका
बतलाना चाहता हूँ वह तो मविकला है—आत्मगका शुद्ध स्वरूप नहीं
है; और जो आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया
नहीं जा सकता—स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव एवं ग्रहण किये जानेके
योग्य है; तब दूसरोंकी मेरे उपदेश देने मे क्या नतीजा ? ॥ ५६ ॥

आत्मगत्त्वके जैसे तैमे समझाये जानेपर भी बहिरात्मका उम्में
अनुराग होना संभव नहीं; क्योंकि मोहके उदयमे वाश्य पदार्थोंमें ही
उम्मा अनुराग होता है, इसी विचारको आगे प्रस्तुत करते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्तरे पिहितज्योतिः) अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञान उयोति
मोहमेआच्छादित होरही है—जिसे स्वरूपका विवेक नहीं ऐसा मूढ़त्मा)
बहिरात्मा (बहिः) वाश्यशरीरादि परपदार्थोंमें ही (तुष्यति) संतुष्ट रहता
है—आनन्द मानता है; किन्तु (प्रबुद्धात्मा) मिथ्यात्वके उदयाभावमे प्रबोध-
को प्राप्त होगया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूपविवेकी अन्तरात्मा
(बहिव्यावृत्तकौतुकः) वाश्यशरीरादि पदार्थोंमें अनुरागरहित हुआ (अन्तः)
अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही (तुष्यति) संतोष धारण करता है—मग
रहता है।

भावार्थ—मूढात्मा और प्रबुद्धात्माकी प्रवृत्तिमें बड़ा अन्तर होता
है। मूढात्मा मोहोदयके वश महाअविवेकी हुआ समझाने पर भी नहीं

विषये । प्रबुद्धात्मा मोहानभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्टि स्वस्वरूपे प्रीति कर्गति ।
किं विशिष्टः सन् ? वहिव्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुग्रामः ॥६०॥

कुतोऽसौ शरीरगदिविषये निवृत्तभूषणामण्डनादिकौतुक इत्याह—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।

निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

टीका—सुखदुःखानि न जानन्ति । कानि शरीरगणि जडत्वात् अबुद्धयो
बाह्यगत्मनः । तथापि यद्यपि न जानन्ति तथापि । अत्रैव शरीरादेव कुर्वते ।
कां ? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुपवासादिना शरीरगदेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रह-
बुद्धि गगवशात्कटककृतिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम् ॥ ६१ ॥

ममभन्ता और वास्त्र विषयोंमें ही मनोष मानना हुआ फँसा रहता है ।
प्रथम इसके, प्रबुद्धात्माको अपने आत्मस्वरूपमें लोन रहनेमें ही अनन्द
आता है और इसा में वह वास्त्र विषयोंमें अपने इन्द्रिय-व्यापारको हटा-
कर प्रायः उदासीन रहता है ॥ ६० ॥

किम कारण अन्तरात्मा शरीरगदिको वस्त्राभूषणादिमें अलंकृत और
मंडित करनेमें उदासीन होता है, उसे बनलाने हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा विचारना है—(शरीरगणि) ये शरीर (सुखदुःखानि
न जानन्ति) जड़ होनेमें सुखों तथा दुःखोंको नहीं जानते हैं (तथापि) तो
भी [ये] जो जीव (अत्रैव) इन शरीरोंमें ही (निग्रहानुग्रहधियं) उपवासादि-
द्वारा दंडरूप निग्रहकी और अलंकाराद्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रह-
की बुद्धि (कुर्वते) धारण करते हैं [ते] वे जीव (अबुद्धयः) मृढ़ बुद्धि हैं—वहि-
रात्मा हैं ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारना है कि जब ये शरीर जड़ हैं—इन्हें
सुख दुःखका कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसीके निग्रह या अनु-
ग्रहको ही कुछ ममभ मकाने हैं नव इनमें निग्राहानुग्रहकी बुद्धि धारण
करना मृढ़ता नहीं तो और क्या है ? उसका यह विचार ही उसे शरीरों-
को वस्त्राभूषणादिमें अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन बनाये रखना
है—वह उनकी अनावश्यक चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान ही नहीं
देता ॥ ६१ ॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्ध्या प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिगिति-
दर्शयन्नाह—

स्वबुद्ध्या यावद्गृहीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

टीका—स्वबुद्ध्या आत्मबुद्ध्या यावद् गृहीयात् । कि ? त्रयम् । केषाम् ? कायवाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ । आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृहीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । तावत्संसारः । एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु अत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥६२॥

शरीरादावात्मनोभेदाभ्यासे च शरीरदृढतादौ नात्मनोदृढतादिकं मन्यते

शरीरादिकमें जब तक आत्मबुद्धिमें प्रवृत्ति रहती है तभी तक संसार है और जब वह प्रवृत्ति मिट जाती है तब मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यावत्) जबतक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, बचन और भन इन तीनोंको (स्वबुद्ध्या) आत्मबुद्धिमें (गृहीयात्) अदृष्ट किया जाता है (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है (तु) और जब (एतेषां) इन भन बचन, कायका (भेदाभ्यासे) आत्मासे भिन्न होनेस्वरूप अभ्यास किया जाता है तब (निर्वृत्तिः) मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—जबतक इस जीवकी भन बचन कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें आत्माके हो अंग अथवा अंश समझा जाता है—तबतक यह जीव संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है । किन्तु जब उसकी यह अत्मबुद्धि मिट जाती है और वह शरीर तथा बचनादिको आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने उस अभ्यासमें दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार बन्धनमें छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

शरीरादिक आत्मासे भिन्न हैं—उनमें जीव नहीं—ऐसा भैदज्ञानका अभ्यास दृढ़ होजाने पर अन्तरात्मा शरीरकी दृढतादिक बनने पर आत्मा-की दृढतादिक नहीं मानता, इस घातको आगेके चार श्लोकोंमें बतलाते हैं ।

इति दर्शयन् धनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

धने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न धनं मन्यते तथा ।

धने स्वदेहेष्यात्मानं न धनं मन्यते बुधः ॥६३॥

टीका—धने निविडाक्षयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं धनं दृढाक्षयवं यथा बुधो न मन्यते । तथा स्वदेहेऽपि धने दृढे आत्मानं धनं दृढं बुधो न मन्यते ॥ ६३ ॥

*जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।

जीर्णे स्वदेहेष्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

टीका—जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं बुधो जीर्णं न मन्यते । तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे धने) गाढ़ा वस्त्र पहन लेनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (धनं) गाढ़ा अथवा पुष्ट (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि धने) अपने शरीरके भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माका (धनं न मन्यते) पुष्ट नहीं मानता है ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे जीर्ण) पहने हुए वस्त्रके जीर्ण-बोदा-होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (जीर्णं न मन्यते) जीर्णं नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहे अपि जीर्णे) अपने शरीरके भी जीर्णं होजानेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (जीर्णं न मन्यते) जीर्णं नहीं मानता है ॥ ६४ ॥

*जिरिण वर्तिं जेम बुद्ध देहु ण मरणइ जिरणु ।

देहि जिरिण णाणि तहै अस्तु ण मरणइ जिरणु ॥ २-१७९ ॥

—परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेवः

* नष्टे वस्त्रे यथाऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका—प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहे विनष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ६५ ॥

‡ रक्ते वस्त्रे यथाऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

टीका—रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुमादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़ेके नष्ट होजानेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीरके भी नष्ट होजानेपर (आत्मानं) अपने जीवात्माको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे रक्ते) पहना हुआ वस्त्र लाल होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते) अपने शरीरके भी लाल होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—शरीरके साथ वस्त्रकी जैसी स्थिति है वैसी ही स्थिति

क्वचन्थु पण्ठुङ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णङ्ठु ।

ण्ठु देहे णाणि तहैं अप्पु ण मण्णइ णङ्ठु ॥ २-१८० ॥

—परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेवः

‡ रत्ने वत्ये जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्नु ।

देहे रत्नि णाणि तहैं अप्पु ण मण्णइ रत्नु ॥ २-१७८ ॥

—परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेवः

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना
लुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

यस्य स्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।

अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

आत्माके साथ शरीरकी है। पहने जाने वाले वस्त्रके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि किसी रंगका होनेके कारण जिस प्रकार कोई भी समझदार मनुष्य अपने शरीरको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि रंगका नहीं मानता है, उसा प्रकार शरीरके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका होनेपर कोई भी ज्ञाना मनुष्य अपने आत्माको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका नहीं मानता है। विंतेकी अन्तरात्माकी प्रवृत्ति शरीरके साथ वस्त्र-जैसी होती है, इसमें एक वस्त्रको उतारकर दूसरा वस्त्र पहनने वालेकी तरह उसे मृत्युके समय कोई विषाद या रंज भी नहीं होता ॥६३-६४-६५-६६॥

इस प्रकार शरीरादिकमें भिन्न आत्माकी भावना करनेवाले अन्तरात्माको जब ये शरीरादिक काष्ठ-पाषाणादिके स्वरूप-ममान इति-भासित होने लगते हैं—उनमें चेतनाका अश भी उसकी प्रतीनिका विषय नहीं रहता—तब उसको मुक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इसी बातको आगे दिखलाने हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस ज्ञानी जीवको (स्पन्दनं जगत्) अनेक क्रियाएँ-
चेष्टाएँ करता हुआ शरीरादिरूप यह जगत् (निःस्पन्देन समं) निश्चेष्ट
काष्ठ पाषाणादिके समान (अप्रज्ञ) चेतना रहित जड़ और (अक्रियाभोगं)
क्रिया नथा सुखादि-अनुभवरूप भोगमें रहित (आभाति) मालूम होने
लगता है (मः) वह पुरुष (अक्रियाभोगं शमं याति) परमवीतरागतामय उस
शान्तिसुखका अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-कायका व्यापार नहीं
और न इन्द्रिय-द्वारोंमें विषयका भोग ही किया जाता है (इतरः न) उसमें
विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति सुखको प्राप्त नहीं कर
सकता है ।

टीका—यस्यात्मनः सप्तन्दं परिस्पन्दस्त्रन्वितं शरीगदिरुषं जगत् आभाति प्रतिभासते । कथम्भूतं ? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाणाणादिना समं तुल्यं । कुतः तेन तत्समं ? अप्रज्ञं जडमचेतनं यतः । तथा अक्रियाभोगं क्रियापदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र । यस्यैवं सत्प्रतिभासते स किं करोति ? स शमं याति शमं परमवीतशागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैगम्यं गच्छति । कथम्भूतं शमं ? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बंधनीयम् । क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः । भोग इन्द्रियप्रणालिक्रिया विषयानुभवनं विषयोत्सवः । तौ न विद्येते यत्र तमित्यम्भूतं शमं स याति । नेतः तद्विलक्षणा बहिरात्मा ॥ ६७ ॥

सोऽयेवं शरीगदिभन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यते इत्याह—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानाविग्रहः ।

नात्मानं बुध्यते तस्माद्ब्रह्मस्यतिचिरं भवे ॥ ६८ ॥

टीका—शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव

भावार्थ—जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते अपनेमें ऐसा स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार भा लकड़ी पर्याय आदिका तरह स्थिर तथा चेतारहित भा जान पड़ता है— उसकी क्रियाओं चेष्टाओंका उसपर कोई अन्तर नहीं होता—न भी वह चीनग-भावको ग्रास होता हुआ शान्ति सुवका अनुभव करता है । हमरा बहि-रात्मा जीव उस शान्ति सुवका अधिकारी नहीं है ॥ ६७ ॥

अब बहिरात्मा भा इसी प्रकार शरीरगदिसे भिन्न आत्माको क्या जानता नहीं ? इसीको बतलाने हैं—

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन) कार्मणशरीररूपी कांचलीसे (संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा (आत्मानं) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (न बुध्यते) नहीं जानता है (तस्मात्) उसी अज्ञानके कारण (अतिचिरं) बहुत काल तक (भवे) संसारमें (भ्रमनि) भ्रमण करता है ।

विग्रहः स्वरूपं यस्य । शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्णते ।
तस्यैव मुख्यत्रुत्या तदावरकत्वोपपत्तेः । इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते ।
तस्मादात्मस्वरूपानववाधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति ॥६८॥

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्ध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन
ते बुद्ध्यन्ते इत्याह—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।

मिथितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥ ६९ ॥

भावार्थ—इम श्लोकमें ‘कंचुक’ शब्द उम आवरणका व्याप्तक है जो शरीरका यथार्थ बोध नहीं होने देता; सर्वके शरीर ऊरको कांचल। जिस प्रकार सर्वके रंग स्थादिका ठीक बोध नहीं होने देता उसी प्रकार आत्माका ज्ञानशरीर जब दर्शन मोहनायके उद्यादिस्त्रप कार्मण वर्गणाओंसे अच्छादित होजाता है तब आत्माके वास्तविक रूपका बोध नहीं होने पाता और इस अज्ञानताके कारण रागादिका जन्म होकर चिरकाल तक संसारमें परिष्रमण करना पड़ता है।

यहांपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि कांचलीका दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है। कांचली जिस प्रकार सर्वशर्तरके ऊपरी भागपर रहती है उस प्रकारका सम्बन्ध कार्मण-शरीरका आत्माके माथ नहीं है। संसारी आत्मा और कार्मण-शरीरका ऐसा सम्बन्ध है जैसे पानीमें नमक मिल जाता है अथवा कट्टा और चूना मिला देनेसे जैसे उनकी लाल परिणति होजाती है। कर्षपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ एक ज्ञेत्रावगाहस्त्रप सम्बन्ध होता है, इसी कारण दोनोंके गुण विकृत रहते हैं तथा दर्शनमोहनाय काके उदयमें बहिरात्मा जीव आत्मस्वरूपको समझाये जाने पर भी नहीं समझता। यदि समझता भी है तो भी अन्यथा ही समझता है—आत्माके वास्तविक चिदानंदस्वरूपका अनुभव उसे नहीं होता। इसी मिथ्यात्व एवं अज्ञानभावके कारण यह जीव अनादिकालसे संसारचक्रमें भ्रमण करता आरहा है और उस वक्त तक बराबर भ्रमण करता रहेगा जब तक उसका यह अज्ञानभाव नहीं मिटेगा ॥ ६८ ॥

टीका—तं देहमात्मानं प्रपद्यन्ते । के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः । क्या कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या । क्व ? देहे । कथम्भूते देहे ? व्यूहे समूहे । केषां ? अणूनां परमाणूनां । किं विशिष्टानां ? प्रविशदगलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च । पुनरपि कथम्भूते ? समाकृतो समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन । आत्मना सहेकक्षेत्रे समानावगाहेन वा । इत्थम्भूते देहे या स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा आन्तर्देहात्मनोभेदाध्यवसायस्तया ॥ ६६ ॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिन्द्रियात्मानं देहाद्विन्नं भावये-
दित्याह—

यदि बहिरात्मा जीवआत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, तो फिर वे किसको आत्मा जानते हैं ? इसा बातको आगे बतलाने हैं—

अभ्यवार्थ—(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (प्रावशदगलतां अणूनां व्यूहे देहे) ऐसे परमाणुओंके समूहरूप शरीरमें जो प्रवेश करते रहते हैं और बाहर निकलते रहते हैं (समाकृतां) शरीरकी आकृतिके समानरूपमें बने रहने पर (स्थितिभ्रान्त्या) कालान्तर-स्थायित्व तथा एक क्षेत्रमें स्थिति होनेके कारण शरीर और आत्माको एक समझने रूप जो आन्ति होती है उससे (तम्) उस शरीरको ही (आत्मानं) आत्मा (प्रपद्यन्ते) समझ लेते हैं ।

भावार्थ—यथापि शरीर ऐसे घुडगल परमाणुओंका बना हुआ है जो सदा स्थिर नहीं रहते—समय समयपर अगणित परमाणु शरीरमें बाहर निकल जाते हैं और नये नये परमाणु शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, फिर भी चूंकि आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और परमाणुओंके इस निकलजाने तथा प्रवेश पानेपर शरीरकी बाह्य आकृतिमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता—वह प्रायः ऊँटोंकी त्यों ही बनी रहती है—इसमें मूढात्माओंको यह भ्रम होजाता है कि यह शरीर ही मैं हूँ—मेरा आत्मा है । उसी भ्रमके कारण मूढ बहिरात्मा प्राणी शरीरको ही अपना रूप (आत्मस्वरूप) समझने लगते हैं । अभ्यन्तर आत्मतत्त्व तक उनकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती ॥ ६६ ॥

*गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गे नाविशेषयन् ।

आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञासिविग्रहम् ॥ ७० ॥

टीका—गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गे न विशेषणेन अविशेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा । कथम्भृतं ? केवलज्ञासिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं । अथवा केवला रूपादिगहिता ज्ञसिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥ ७० ॥

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह—

मुक्तिरेकान्तिको तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।

तस्य नेकान्तिको मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥ ७१ ॥

ऐसी हालतमें आत्माका यथार्थस्वरूप जाननेकी इच्छा रखने वालोंको चाहिये कि वह शरीरमें भिन्न आत्माकी भावना करें, ऐसा दर्शाते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा हूँ (स्थूलः) सोटा हूँ (वा कृशः) अथवा दुबला हूँ (इति) इस प्रकार (यंगंन) शरीरके माथ (आत्मानं) अपने को (अविशेषयन्) एकरूप न करते हुए (नित्यं) मदा ही (आत्मानं) अपने आत्माको (केवलज्ञासिविग्रहम्) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरो (धारयेत्) अपने चित्तमें धारण करे ॥ ७० ॥

भावार्थ—गोरापन, कालापन, सोटापन, दुबलापन आदि अवस्थाएं पुद्गलको हैं—पुद्गलसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है । आत्मा इन शरीरके धर्मोंमें भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है । अतः आत्मपरिज्ञानके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने आत्माको इन पुद्गलपर्यायोंके माथ एकमेक (अभेदरूप) न करें, बल्कि इन्हें अपना रूप न मानते हुए अपनेको रूपादिरहित केवल-ज्ञानस्वरूप समझें । इसीका नाम भैदविज्ञान है ॥ ७० ॥

जो इस प्रकार आत्माकी एकाग्रचित्तमें भावना करता है उसीको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं, ऐसा दिखाते हैं—

ऋ हृँ गोरउ हृँ सामलउ हृँ जि विभिणउ वणु ।

हृँ तणु-अंगउ थूलु हृँ एहृँ मुढउ मणु ॥ ८० ॥

— परमात्म प्रकाश, योगीन्दुदेवः

टीका—एकान्तिकी अवश्यमभाविनी तस्यान्तगत्मनो मुक्तिः । यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसर्तिर्वा । यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः ॥ ७१ ॥

चित्तेऽचलाधृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चत्तविभ्रमाः ।

भवान्त तस्मात्संसर्गं जनेयोगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस पुरुषके (चित्ते) चित्तमें (अचला) आत्म-स्वरूपकी निश्चल (धृतिः) धारणा है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः) नियमसे मुक्ति होती है । (यस्य) जिस पुरुषकी (अचलाधृतिः नास्ति) आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः न) अवश्यमभाविनी मुक्ति नहीं होती है ॥ ७२ ॥

भावार्थ—जब यह जीव आत्मस्वरूपमें डाँवाडोल न रह कर स्थिर हो जाता है तभी मुक्तिको प्राप्त कर सकता है । आत्मस्वरूपमें स्थिरताके बिना मुक्तिकी प्राप्ति होना असंभव है ॥ ७२ ॥

चित्तकी निश्चलता नभी हो सकेगी जब लोक-संसर्गका परित्याग कर आत्मस्वरूपका संबंदन एवं अनुभव किया जावेगा—अन्यथा नहीं हो सकेगो; इसी बातको आगे प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जनेभ्यो) लोगोंके संसर्गमें (वाक्) वचनकी प्रवृत्ति होती है (ततः) वचनका प्रवृत्तिसे (मनसः स्पन्दः) मनकी व्यग्रता होती है—चित्त चलायमान होता है (तस्मात्) चित्तकी चंचलतामें (चित्तविभ्रमाः भवन्ति) चित्तमें नाना प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं—मन कुभित होजाता है (ततः) इमलिये (योगी) योगमें संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा साधुको चाहिये कि वह (जनैः संसर्गं त्यजेत्) लौकिक जनोंके संगर्गका परित्याग करे—खासकर ऐसे स्थानपर योगाभ्यास करने न बंडे जहां पर कुछ लौकिक जन जमा हों अथवा उनका आवागमन बना रहता हो ।

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्यं इत्याशंकां
निराकुर्वन्नाह—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।

दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

टीका—ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासस्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धा-
त्मस्वरूपोपलभ्मानां दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव
रागादिगहितां विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतागहितः ॥ ७३ ॥

भावार्थ—आत्मस्वरूपमें स्थिरताके इच्छुक मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये
कि वे लौकिक जनोंके संसर्गमें अपनेको प्राप्तः अलग रखें; क्योंकि लौ-
किक जन जहाँ जमा होते हैं वहाँ वे परस्परमें कुछन-कुछ बात-चीत किया
करते हैं, बालते हैं और शोर तक मचाते हैं। उनकी इन वचनप्रवृत्तिके
श्रवणमें चित्त चलायमान होता है और उसमें नाना प्रकारके सकल्प-
विकल्प उठने लगते हैं, जो आत्मस्वरूपवी स्थिरताके बाधक होते हैं—
आत्माको अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते ॥ ७२ ॥

तब क्या मनुष्योंका संसर्ग छाड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये ?
इम शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनां) जिन्हें आत्माकी उपलब्धि-उमका दर्शन
अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगोंके लिये (ग्रामः अरण्यम्) यह गांव है
यह जंगल है (इति द्वेधा निवासः) इसप्रकार दो तरहके निवासको कल्पना
होती है (तु) किन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभव होगया
है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके लिये (विविक्तः) रागादिगहित विशुद्धपर्व (निश्चलः)
चित्तकी व्याकुल गारहित स्वरूपमें स्थिर (आत्माएव) आत्मा हो (निवासः)
रहनेका स्थान है ।

भावार्थ—जो लोग आत्मानुभवमें शून्य होते हैं उन्हींका निवास-
स्थान गांव तथा जंगलमें होता है—कोई गांवको अपनाना है तो दूसरा
जंगलमें प्रेम रखता है। गांव और जंगल दोनों ही बास्तु एवं परवस्तुएँ हैं।
मात्र जंगलका निवास किसीको आत्मदर्शी नहीं बना देता। प्रत्युत इसके,

अनात्मदर्शिनो दृष्टत्यनश्च फलं दर्शयन्नाह—

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।

बोजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

टीका—देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य बीजं कारणं कि ?

आत्मभावना । क ? देहेऽस्मिन् आस्मिन् कर्मवशाद्गृहीते देहे । विदेहनिष्पत्ते :

विदेहस्य सर्वथादेहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेबीजं स्वात्मन्येवात्मभावना । ७४ ।

जो आत्मदर्शी होते हैं उनका निवासस्थान वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है जो बीतरागनाके कारण चित्तको व्याकुलताको अपने पास फटकने नहीं देता और इस लिये उन्हें न तो ग्रामवासमें प्रेम होता है और न वनके निवाससे ही—वे दानोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत समझते हैं और इसलिये किसीमें भी आमत्तिका रखना अथवा उसे आज्ञा (आत्माका) निवासस्थान मानना उन्हें इट नहीं होता । वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी विहारभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं । ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शीसे अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥ ७३ ॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा माननाहै—वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका (बीजं) कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मामें ही (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है—वह (विदेहनिष्पत्ते:) शरीरके सर्वथा त्यागरूप मुक्तिका (बीजं) कारण है।

भावार्थ—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देहभोगोंमें आमत्त रहता है, वह चिरकाल तक नये नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है । प्रत्युत इसके, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूट-

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्मविष्टीति वदन्तं प्रत्याह—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च* ।

गूरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

टीका—जन्म संसारं नयति प्रापयति । कं ? आत्मानं । कोऽसौ ? आत्मैव देहादौ दृढात्मभावनावशात् । निर्वाणमेव च आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसङ्गावात् । यत एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः । नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः । व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥ ७५ ॥

कर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मदाके लिये अपने निरावध सुख-स्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त कराने के लिये हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसी आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्माको (जन्म नयति) देहादिकमें दृढात्मभावनाके कारण जन्म-मरणस्वप्न संसारमें ब्रह्मण कराता है (च) और (निर्वाणिमेव नयति) आत्मामें ही आत्मबुद्धिके प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है (तस्मात्) इस लिये (परमार्थतः) निश्चयसे (आत्मनः गुरुः) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति दूसरा कोई गुरु नहीं है) ।

भावार्थ—हितोपदेशक सद्गुरुओंका हितकर उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और अंतरंग रागादिक शब्दों एवं कषाय-परिणति पर विजय प्राप्त कर स्वयं अपने उद्वारका यस्तु नहीं करता तब तक बराबर संसारस्वप्नी कीचड़में ही फँसा रहता है और जन्ममरणादिके असद्य कष्टोंको भोगता रहता है । परन्तु जब इस जीवकी भवस्थिति सञ्जिकट आती है, दर्शनमोहका उपशम-क्षयोपशम होता है, उस समय सद्गुरुओंके उपदेशके बिना भी यह जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचान लेता है और रागद्रेषादिस्वप्न कषायभाव एवं विभावपरिणतिको स्थाग करके स्वयं कर्मबन्धनसे छूट जाता है । इसलिये पारमार्थिकदृष्टिसे तो खुद आत्मा ही अपना गुरु है—दूसरा नहीं ॥ ७५ ॥

* ‘वा’ इति पाठान्तरं ‘ग’ पुस्तके ।

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।

मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

टीका—देहादौ दृढात्मबुद्धिग्विचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । उत्पश्यनवलोक्यन् । आत्मनो नाशं मरणं मित्रादिभिर्वियोगं च मम भवति इति बुद्ध्यमानो मरणाद्विभेति पृश्नमत्यर्थम् ॥ ७६ ॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।

मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥ ७७ ॥

शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा मरणके संनिकट आनेपर क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धिः) शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ़ होरही है ऐसा बहिरात्मा (आत्मनः नाशम्) शरीरके छूटनेरूप अपने मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादि सम्बन्धियोंके वियोगका (उत्पश्यन) देखता हुआ (मरणात्) मरनेमें (भृशम्) अन्यंत (विभेति) डरता है ।

भावार्थ—फटे पुराने कपडेको उतार कर नवीन बस्त्र पहननेमें जिस प्रकार कोई दुःख नहीं होता, उसा प्रकार एक शरीरको छोड़ कर दूसरा नया शरोर धारण करनेमें कोई कष्ट न होना चाहिये । परन्तु यह अज्ञानी जीव मांहके तीव्रउदयवश जब शरीरको ही आत्मा समझ लेता है और शरोरसम्बन्धी स्त्री-पुत्र मित्रादि परपदायोंको आत्मीय मान लेता है तथ मरणके समुपस्थित होनेपर उसे अपना (अपने आत्माका) नाश और आत्मीय जनोंका वियोग दोख पड़ता है और इसलिये वह मरनेसे बहुत ही डरता है ॥ ७६ ॥

जिसकी आत्मस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा मरणके समुपस्थित होनेपर क्या करता है उसे बतलाते हैं—

टीका—आत्मन्येवात्मस्वरूप एव आत्मधीः अन्तर्गत्मा शगीगति॑
शरीरविनाशं शरीरपणिण्ठिं वा बालाद्यवस्थारूपां आत्मनो अन्यां मिन्नां
निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते । शगीगत्पादविनाशौ आत्मनो विनाशात्पादौ
(उत्पादविनाशौ इति साधुः) न मन्यत इत्यर्थः । वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तर-
ग्रहणमिव ॥ ७७ ॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादगपः यस्तु तत्रादगपः स न
बुध्यत इत्याह—

*व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यास्मिगोचरे ।
जागर्तिं व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्ताश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ—(आत्मनः एव आत्मधीः) आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ़
आन्मबुद्धि है ऐसा अन्तर्गत्मा (शगीगति) शरोरके विनाशको अथवा
बाल-युवा आदिरूप उसको परिणतिको (आत्मनः अन्यां) अपने आन्मामें
मिन्न (मन्यते) मानता है—शरोरके उत्पाद-विनाशमें अपने आत्माका
उत्पाद-विनाश नहीं मानता—और इस तरह ग्रहणके अवसरपर (वस्त्रं
त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहणम् इव) एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने
की तरह (निर्भयं मन्यते) निर्भय रहता है ॥ ७७ ॥

भावार्थ—अन्तरात्मा स्वपरके भेदका यथार्थ ज्ञाता होता है, अतएव
पुद्गलके विविध परिणामोंसे स्वेद ग्विन्न नहीं होता । शरीरादि पुद्गलमय
द्रव्योंको वह अपने नहीं समझता । हमीं लिये शरीररूपी भौंड़ोका
विनाश मसुपस्थित होनेपर भी उसे आकुलता नहीं मनाती । वह तो
निर्भय हुआ अपने आत्मस्वरूपमें पग्र रहता है और शरीरके याग-
ग्रहणको वस्त्रके स्थाग ग्रहणके समान समझता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार वहां आत्मयोधको प्राप्त होता है जो व्यवहारमें आदर-
यान् है—अनासक्त है—और जो व्यवहारमें आदरवान् है—आसक्त है—
वह आत्मयोधको प्राप्त नहीं होता ।

क्षे जो सुतो ववहारे सो जोई जगगए सकज्जम्मि ।

जो जगदि ववहारे सो सुतो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥

—मोक्षप्राप्तते, कुन्दकुन्दः ।

टीका—व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्यादिस्वरूपे वा सुषुप्ताऽप्रयत्नपगे यः म जागर्त्यात्मगाचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति । यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगाचरे ॥ ७८ ॥

यश्चात्मगाचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।

तयोरन्तरविज्ञानादाभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥

टीका—आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेह-

अन्वयार्थ—(यः) जा कोइ (व्यवहारे) प्रवृत्तिनिवृत्यादिस्वरूप लोक-व्यवहारमें (सुषुप्तः) सांता है—अनासक्त एवं अप्रयत्नशोल रहता है (मः) वह (आत्मगाचरे) आत्माके विषयमें (जागर्ति) जागता है—आत्मानुभवमें तत्पर रहता है (न्त्र) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस लोकव्यवहारमें (जागर्ति) जागता है—उसकी मध्यनामें तत्पर रहता है वह (आत्मगाचरे) आत्माके विषयमें (सुषुप्तः) सांता है—आत्मानुभवका कोई प्रयत्न नहीं करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार एक म्यानमें दो नलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार आत्मामें एक साथ दो विरुद्ध परिणतियां भी नहीं रह सकतीं । आत्मामत्ति और लोकव्यवहारात्मत्ति ये दो विरुद्ध परिणतियां हैं । जो आत्मानुभवनमें आसक्त हुआ आत्माके आराधनमें तत्पर होता है वह लौकिक व्यवहारोंमें प्राप्त उदासीन रहता है—उनमें अपने आत्माको नहीं फेंगता । और जो लोकव्यवहारोंमें अपने आत्माको फेंसाए रखता है—उन्हींमें मदा दत्तावधान रहता है—वह आत्माके विषयमें विलक्षण बेखबर रहता है—उसे अपने शुद्धस्वरूपका कोई अनुभव नहीं होपाता ॥ ७८ ॥

जो अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जागता है—उसकी ठीक सावधानी रखता है—वह मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्तरे) अन्तरंगमें (आत्मानम्) आत्माके वासनविक स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर और (बहिः) वायमें (देहादिकं) शरीरादिक पर-भावोंको (दृष्ट्वा) देखकर (तयोः) आत्मा और शरीरादिक दोनोंके (अन्तर-

योरन्तरविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत् । ततोऽच्युतो भवन्नायभ्यासाद्भेद-
ज्ञानभावनाता भवति न पुनर्भेदविज्ञानभावत् ॥ ७६ ॥

यस्य च देहात्मनोभेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगा-
वस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह—

पूर्वे दृष्टात्मतत्त्वस्य विभास्युन्मत्तवज्जगत् ।

स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥ ८० ॥

टीका—पूर्वे दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य योगिनः

विज्ञानात्) भेदविज्ञानमें तथा (अभ्यासात्) अभ्यासद्वारा उस भेदविज्ञानमें
दृढता ग्रास करनेमें (अच्युतो भवेत्) यह जीव मुक्त होजाता है ।

भावार्थ—जब इस जीवको आत्मस्वरूपका दर्शन होजाता है और
यह शरीरादिको अपने आत्मामें भिन्न परपरार्थ समझने लगता है तब
इसको परिणति पलट जाती है—बाह्य विषयोंमें हटकर अन्तर्दुखोंहो
जाती है—और तब यह अपने उपयोगको इधर उधर इन्द्रिय विषयोंमें न
भ्रमाकर आत्माराधनकी ओर एकाग्र करता है, आत्मसाधनके अपने
अभ्यासको बढ़ाता है और उस अभ्यासमें दृढता सम्पादन करके अपने
सम्पर्कदर्शनादि गुणोंका पूर्ण विकास करता है । फिर उसका आत्मस्व-
रूपमें पतन नहीं होता—वह उसमें बराबर स्थिर रहता है । इसीका
नाम अच्युत होना अथवा अच्युत (मोक्ष) पदको प्राप्ति है ॥ ७६ ॥

शरीर और आत्माका जिसे भेदविज्ञान होगया है ऐसे अन्तरात्माको
यह जगत योगभ्यासकी प्रारम्भावस्थामें कैसा दिखाई देता है और योगा-
भ्यासकी निष्पन्नावस्थामें कैसा प्रतात होता है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसे आत्मस्वरूपका दर्शन होगया है
ऐसे योगी जीवको (पूर्वे) योगभ्यासकी प्रार्थमिक अवस्थामें (जगत्) यह
अज्ञ प्राणिमूह (उन्मत्तवत्) उन्मत्त-सरीखा (विभाति) मालूप होता है
किन्तु (पश्चात्) बादको जब योगकी निष्पन्नावस्था होजाती है तब
(स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मस्वरूपके अभ्यासमें परिपक्वबुद्धि हुए अन्तरा-
त्माको (काष्ठपाषाणरूपवत्) यह जगत काठ और पथरके समान चेष्टा-
रहित भालूप होने लगता है ।

विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिन्तनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नाना-
बाह्यविकलपैरूपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते । पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां
स्वभ्यस्तात्मधियः सुषुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरूपमनु-
भवतां जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणावत्प्रतिभाति । न तु परमौदासी-
न्यावलम्बात् ॥ ८० ॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम् । शरीरादभेदेनात्मनस्तस्वरूपविद्-
म्यः श्रवणात्स्वयं व्राऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

श्रृणवन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।

नात्मानं भावयेद्विज्ञँ यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

भावार्थ—अपने शरीरसे भिन्नरूप जब आत्माका अनुभव होता है तब
योगकी प्रारम्भिक दशा होती है, उस समय योगी अन्तरात्माको यह
जगत् स्वरूपचिन्तनसे विकल होनेके कारण शुभाऽशुभ चेष्टाओंमें युक्त
और नाना प्रकारके बाह्य विकल्पोंसे घिरा हुआ उन्मत्त-जैसा मालूम
पड़ता है । वादको योगमें निष्णान होनेपर जब आत्मानुभवका अभ्यास
खूब हृढ होजाना है—बाह्यविषयोंमें उमका परिणति नहीं जाती—तब,
परम उदासीन भावका अवलम्बन न लेते हुए भी, जगद्विषयक चिन्ना-
का अभाव होजानेके कारण उसे यह जगत् काष्ठ-पाषाण-जैसा निश्चेष्ट
जान पड़ता है । यह सब भेदविज्ञान और अभ्यास-अनभ्यासका
माहात्म्य है ॥ ८० ॥

यदि कोई शंका करे कि ‘स्वभ्यस्तात्मधियः’ यह पद जो पूर्वश्लोकमें
दिया है वह व्यर्थ है—आत्मतत्त्वके अभ्यासमें परिषक्त होनेकी कोई
जरूरत नहीं—क्योंकि शरोर और आत्माके स्वरूपके जाननेवालोंमें आ-
त्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा सुननेमें अथवा स्वयं दूसरोंको उस स्वरूपका
प्रतिपादन करनेमें मुक्ति होजायगी, तो उसके उत्तरमें कहते हैं—

अन्वयार्थ—आत्माका स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओंके
मुखसे (कामं) खूब इच्छानुसार (श्रृणवन्नपि) सुननेपर भी तथा
(कलेवरात्) अपने मुखसे (वदन्नपि) दूसरोंको लतलाते हुए भी (यावत्)

टीका—अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं शृणवन्नपि कलेवगद्विन्न-
माकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति वदन्नपि यावत्कलेवगद्विन्नमा-
त्मानं न भावयेत् । तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत् ॥८१॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तौऽसौ किं कुर्यादित्याह—

तथैव भावयेदेहाद्यावृत्यात्मानमात्मनि ।

यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२ ॥

टीका—देहाद्यावृत्त शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि
स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत् । यथा
पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेऽपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देह-
मात्मतया नाध्यवस्थेत् ॥ ८२ ॥

जबतक (आत्मानं) आत्मस्वरूपकी (भिन्न) शरीरादि परपदार्थाँसे भिन्न
(न भावयेत्) भावना नहीं की जाती । (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न)
यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता ॥८२॥

भावार्थ—जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोतेकी तरहमे रट
लेने और दूसरोंको सुनादेने मात्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।
मुक्तिकी प्राप्तिके लिये आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करनेकी खाम
ज़रूरत है । जब तक भावनाके बलपर यह अभ्यास दृढ़ नहीं होता तब
तक कुछ भी आत्मकल्याण नहीं बन सकता ॥८२॥

भेदविज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माको क्या करना चाहिये,
उसे बतलाने है—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (देहात्) शरीरमें (आत्मानं)
आत्माको (व्यावृत्य) भिन्न अनुभव करके (आत्मनि) आत्मामें ही(तथैव)
उस प्रकारसे (भावयेत्) भावना करे (यथा पुनः) जिस प्रकारसे फिर (स्वप्ने-
ऽपि) स्वप्नमें भी (देहे) शरीरकी उपलब्धि होनेपर उसमें (आत्मानं) आत्मा-
को (न योजयेत्) योजित न करे अर्थात् शरीरको आत्मा न समझ बैठे ।

भावार्थ—मोहकी प्रबलता-जन्य चिरकालका अज्ञान संस्कार जब
हृदयमें निकल जाता है तब स्वप्नमें भी इस जड़ शरीरमें आत्माका बुद्धि

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपगविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि ।

यतः—

अपुण्यमवतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्धर्ययः ।

अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ ८३ ॥

टीका—अपुण्यमधर्मः अव्रतहिंसादिविकल्पैः परिगातस्य भवति । पुण्यं धर्मो व्रतैः अहिंसादिविकल्पैः परिगातस्य भवति । मोक्षः पुनर्मतयोः पुण्यापुण्ययोव्ययो विनाशां मोक्षः । यथैव हि लोहशृङ्खला बंधहेतुमतथा सुवर्णशृङ्खलाऽपि । अतां यथोभयशृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिमतथा परमार्थेऽपीति । ततस्तम्मातृमोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽप्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि ॥ ८३ ॥

नहीं होनी । अनः उक्त मं कारको दृग् करने के लिये भेदविज्ञानको निरंतर भावना करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार परम उदार्मान अवस्थामें स्वपरका विकल्प न्यागने योग्य होना है उसी प्रकार व्रतोंके पालने का विकल्प भी न्याज्य है । क्योंकि—

अन्वयार्थ—(अव्रतैः) हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रहस्य पाँच अव्रतोंके अनुष्ठानमें (अपुण्यम्) पापका बंध होता है और (व्रतैः) अहिंसादिक चाँच व्रतोंके पालने से (पुण्य) पुण्यका बंध होता है और (तयाः) पुण्य और पाप दोनों कर्त्रोंका (व्ययः) जो विनाश है वहो (मोक्षः) मोक्ष है (नतः) इस लिये (मोक्षार्थी) मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिये कि (अव्रतानि इव) अव्रतोंकी तरह (व्रतानि श्रपि) व्रतोंको भी (त्यजेत) छोड़ देवे ।

भावार्थ—मोक्षार्थी पुरुषको मोक्षप्राप्तिके मार्गमें जिस प्रकार पाँच अव्रत विप्रस्वस्य हैं उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक हैं; क्योंकि लोहेकी बेड़ी जिस प्रकार बन्धकारक है उसी प्रकार सोनेकी बेड़ी भी बंधकारक

होना प्रकारको चेड़ीयोंका अभाव होने पर जिस प्रकार लोहशृङ्खलावहारमें मुक्ति (आज्ञादा) सप्तभाजाता है उसी प्रकार परमार्थमें भी व्रत और अव्रत दोनोंके अभावमें मुक्ति मानी गई है । अनः मुमुक्षुकों अव्रतोंका

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

अवृतानि परित्यज्य वृतेषु परिनिष्ठितः ।

त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

टीका—अवृतानि हिंसादीनि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो भवेत् । पश्चात्तान्यपि त्यजेत् । किं कृत्वा ? सम्प्राप्य । किं तत् ? परमं पदं परमवीतगगतलक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं । कस्य तत्पदं ? आत्मनः ॥ ८४ ॥

कुनोऽवृत-व्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तियाह—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।

मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ८५ ॥

टीका—यदुत्प्रेक्षाजालं । कथमभृतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचन-

तरह ब्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये ॥ ८५ ॥

अब उनके छोड़नेका क्रम बतलाने हैं—

अन्वयार्थ—(अवृतानि) हिंसादिक पञ्च अब्रतोंको (परित्यज्य) छोड़ करके (व्रतेषु) अहिंसादिक ब्रतोंमें (परिनिष्ठितः) निष्ठावान रहे अर्थात् उनका दृढ़ताके साथ पालन करे, बादको (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) राग-द्वेषादिरहित परम वीतरागपदको (प्राप्य) प्राप्त करके (तानि अपि) उन ब्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ॥ ८५ ॥

भावार्थ—प्रथम तो हिंसादिक पञ्च पापरूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर अहिंसादिक ब्रतोंके अनुष्ठानस्त्रप शुभ प्रवृत्ति करनी चाहिये । साथ ही, अपना लक्ष शुद्धोपयोगकी ओर ही रखना चाहिये । जब आत्माके परम-पदरूप शुद्धोपयोगकी—परमवीतरागतामय क्षीणकषायनामक गुणस्थानकी—सम्प्राप्ति हो जावे तब उन ब्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये । लेकिन जब तक वीतरागदशा न हो जावे तबतक ब्रतोंका अवलम्बन रखना चाहिये, जिससे अशुभको ओर प्रवृत्ति न हो सके ॥ ८५ ॥

किस प्रकार अवृतों और ब्रतोंके विकल्पको छोड़नेशर परमपदकी प्राप्ति होगी, उसे बतलाते हैं—

व्यापारोपेतं । आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं । तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजालस्य
विनाशे । इष्टमभिलिखितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम् ॥ ८५ ॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

अवृती वृतमादाय वृती ज्ञानपरायणः ।

परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥

टीका—अवृतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् ।

ब्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावनानिष्ठो भृत्वा

अन्वयार्थ—(अन्तर्जल्पसंपृक्त) अंतरंगमें वचन व्यापारको लिये हुए (यत् उत्प्रेक्षाजालं) जो अनेक प्रकारको कल्पनाओंका जाल है वही (आत्मनः) आत्माके (दुःखस्य) दुःखका (मूल) मूल कारण है (तन्नाशे) उस विविध संकल्प-विकल्परूप कल्पनाजालके विनाश होनेपर (इष्टं) अपने प्रिय हितकारी (पामं पदं शिष्टं) परमपदकी प्राप्ति कही गई है ।

भावार्थ—यह जीव अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प स्वरूपको भूलकर जब तक वाहयविषयोंको अपनाना हुआ दुःखोंके मूलकारण अन्तर्जल्परूपी अनेक संकल्प विकल्पोंके जालमें फँसा रहता है—मन-हा मन कुछ गुन गुनाना अथवा हवासे बातें करता है—तब तक इसको परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती और न कोई सुख ही मिल सकता है । भुखमय परमपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो अन्तर्जल्परूपी उत्प्रेक्षाजालका मर्वथा त्याग करके अपने ही चैतन्य चमकाररूप विज्ञानघन आत्मामें लोन होजाना है ॥ ८५ ॥

उस उत्प्रेक्षाजालका नाश करनेके लिये उद्यमी मनुष्य किम क्रमसे उसका नाश करे, उसे बतलाने हैं—

अन्वयार्थ—(अवृती) हिंसादिक पञ्च अवृतों-पापोंमें अनुरक्त हुआ मानव (ब्रतं आदाय) वृतोंको ग्रहण करके, अवृतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे, तथा (ब्रती) अहिंसादिक वृतोंका धारक (ज्ञानपरायणः) ज्ञानभावनामें लोन होकर, वृतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहंत-अवस्थामें (परात्मज्ञानसम्पन्नः) केवलज्ञानसे युक्त होकर

पग्मनीतरगतावस्थायां विनाशयेत् । सयोगिज्ञिनावस्थायां पगत्मज्ञानमम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तत्त्वं तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्ना युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः मिद्दस्वरूप आत्मा भवेत् ॥ ८६ ॥

यथा च ब्रतविकल्पो मुक्तिहेतुं भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याद—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देहएवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्तमात् ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥ ८७ ॥

टीका—लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादिदेहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं । देह एवात्मनो भवः संसारः । यत एवं तम्माद्ये लिङ्गकृताग्रहाः लिंगमेवमुक्ते हेतुगिनिकृताभिनिवेशास्ते न मुच्यन्ते । कस्मात् भवात् ॥ ८७ ॥

(स्वयमेव) स्वर्य ही—चिना किसीके उपदेशके (परः भवेत्) परमात्मा होव—मिद्दस्वरूपको प्राप्त करे ।

भावार्थ—विकल्पजालको जीतकर मिद्दि प्राप्तकरनेका क्रम अवतीर्णे ब्रती होना, ब्रतामें ज्ञानभावनामें लोन होना, ज्ञानभावनामें लोनहोकर केवलज्ञानको प्राप्त करना और केवलज्ञानमें सम्पन्न होकर मिद्दपदको प्राप्त करना है ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार बूतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं उमी प्रकार लिंगका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐमा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(लिङ्गं) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष (देहाश्रितं दृष्टं) शरीरके आश्रित देवा जाना है (देहएव) और शरीर ही (आत्मनः) आत्माका (भवः) समार है (तस्मात्) इमलिंये (ये लिङ्गकृताग्रहाः) जिनको लिङ्गका ही आग्रह है—बाह्य वेष धारण करनेमें मुक्तिको प्राप्ति होनी है ऐमी हठ है (ते) वे पुरुष (भवात्) संसारमें (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं ॥ ८७ ॥

भावार्थ—जो जीव केवल लिंग अथवा बाह्य वेषको ही मोक्षका कारण मानते हैं वे देहात्मदृष्टि हैं और इस लिये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते । क्योंकि लिंगका आधार देह है और देह हो इस आत्माका संसार है—देहके अभावमें संसार रहता नहीं । जो लिंगके आग्रही हैं—लिंगको

येऽपि 'वर्गानां ब्राह्मणो गुह्यतः स एव प्रमपदयोग्य' इति वदन्ति
तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

जातिदेहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्स्मात् ये जातिकृताग्रहाः ॥ ८८ ॥

टीका—जातिब्राह्मणादिदेहाश्रितंत्यादि सुगमं ॥ ८८ ॥

तर्हि ब्राह्मणादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितां मुक्ति
प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

दो मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संमारके आग्रही हैं—संमारको
अपनाए हुए हैं, और जो संमारके आग्रही होते हैं—उसीकी हठ पकड़े
रहते हैं—वे संमारमें नहीं छूट सकते ॥ ८७ ॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, इसलिये वही परम-
पदके योग्य है' वे भी मुक्तिके योग्य नहीं हैं, ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण आदि जाति (देहाश्रिता दृष्टा) शरीरके
आश्रित दंडी गई है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः भवः) आत्मा-
का संमार है (तस्मात्) इसलिये (ये) जो जीव (जातिकृताग्रहाः) मुक्तिकी
प्राप्तिके लिये जातिका हठ पकड़े हुए हैं (तेऽपि) वे भी (भवात्) संमारमें
(न मुच्यन्ते) नहीं छूट सकते हैं ।

भावार्थ—लिंगकी तरह जाति भी देहाश्रित है और इस लिये जातिका
दूराग्रह रखने वाले भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते । उनका जाति-
विषयक आग्रह भी संमारका ही आग्रह है और इसलिये वे संमारमें
कैसे छूट सकते हैं ? —नहीं छूट सकते ॥ ८८ ॥

तब तो ब्राह्मण आदि जातिविशिष्ट मानव ही साधुवेष धारणकर
मुक्ति प्राप्त करमकता है, ऐसा कहने वालोंके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(येषां) जिन जीवोंका (जातिलिंगविकल्पेन) जाति और वेष

टीका—जातिनिंगरूपविकल्पा भेदम्तेन येषां शेवादीनां समयाग्रहः
आगमानुबंधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंगं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमत-
स्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपां येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव
परमं पदमात्मनः ॥ ८६ ॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो
व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशान्द्रगीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह—

यत्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवास्तये ।

प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥ ६० ॥

के चिकलमें मुक्ति होता है ऐसा (समयाग्रहः) अगम-सम्बन्धा आग्रह है
अर्थात् ब्राह्मण आदि जातिमें उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करनेमें ही
मुक्ति होती है ऐसा आगमानुबन्ध हठ है (तं अपि) वे पुष्ट भो (आत्मनः)
आन्माके (परमं पदं) परमपदको (न प्राप्नुवन्त्येव) प्राप्त नहीं करसकते हैं—
संमारमें मुक्त नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ—जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाला अमुक वेष
धारण करे नभी मुक्तिको प्राप्ति होता है ऐसा आगममें कहा है, वे भी
मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते; क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब
देहाश्रित हैं और देह हा आन्माका संमार है तब संमारका आग्रह रखने
वाले उसमें कैसे छूट सकते हैं ? ॥ ८६ ॥

उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणादिजातिविशिष्ट शरीरमें
निर्ममत्वको मिद्ध करनेके लिये भोगेभ्योंको छोड़ देनेपर भी अज्ञानी जीव
माहके वश होकर शरीरमें ही अनुराग करने लगजाते हैं, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—[यत्यागाय] जिस शरीरके त्यागके लिये—उसमें ममत्व
दूर करने के लिये—और (यदवास्तये) जिस परमवीतराग पदको प्राप्त
करनेके लिये [भोगेभ्यः] इन्द्रियोंके भोगेभ्योंमें (निवर्तन्ते) निवृत्ति होते हैं
अर्थात् उनका त्याग करते हैं (तत्रैव) उसी शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंमें
(मोहिनः) मोही जीव (प्रीति कुर्वन्ति) प्रीति करते हैं और (शन्यत्र) वीत-
रागता आदिके साधनोंमें (द्वेषं कुर्वन्ति) द्वेष करते हैं ॥ ६० ॥

टीका—यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्मृतिनितादिभ्यो निवर्तन्ते । तथा यद्वासये यस्य परमवीतरागत्वस्यावासये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते । प्रीतिमनुवन्धं तत्रैव शरीरे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र वीतगागत्वे । के ते ? मोहिनो मोहवन्तः ॥ ६०

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके ।

संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥ ६१ ॥

टीका—अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा पङ्गोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आगोपयति । कस्मात् संयोगात् पंगवन्धयाः सम्बन्धमाश्रित्य । तद्वत् तथा

भावार्थ—मोहकी बड़ी ही चिचित्र लीला है । जिस शरीरमें ममत्व हटानेके लिये भोगोंमें निवृत्ति धारणकी जाती है—संयम ग्रहण किया जाता है—उसीसे मोही जीव पुनः प्रोत्ति करने लगता है और जिस वीत-रागभावकी प्राप्तिके लिये भोगोंमें निवृत्ति धारण को जारी है—संयमका आश्रय लिया जाता है—उसीसे मोहा जीव छेष करने लगता है । ऐसी हालतमें मोहपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी ही मावधारीकी जस्तर है और वह नभी बन सकता है जब माघको दृष्टि शुद्ध हो । दृष्टिमें विकार आते ही मारा खेल चिंड़ जाता है—अपकारीको उपकारो और उपकारीको अपकारी समझ लिया जाता है ॥ ६० ॥

मोही जीवोंके शरीरमें दर्शनव्यापारका विपर्यास किस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः] भैदज्ञान न रमने वाला पुरुष (यथा) जिस प्रकार (संयोगात्) संयोगके कारण भ्रममें पड़कर—संयुक्त हुए लंगडे और अंघेको क्रियाओंको ठीक न समझकर (पंगोर्दृष्टि) लंगड़ेकी दृष्टिको (अन्धके) अन्धे पुरुषमें (संधत्ते) आरोपित करता है—यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है—(तद्वत्) उसी प्रकार (आत्मनः दृष्टि) आत्माकी दृष्टिको (अङ्गेऽपि) शरीरमें भी (संधत्ते) आरोपित करता है—यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है ।

देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिसंगेऽपि सन्धते अंगं (गः) पश्यतीति [मन्यते]
मोहाभिभूतो बहिरात्मा ॥ ६१ ॥

अन्तरात्मा कि करोतीत्याह—

दृष्टिभेदो यथा दृष्टिं पद्मोरन्धे न योजयेत् ।

तथा न योजयेदेहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ६२ ॥

टीका—दृष्टिभेदः पंगवन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोदृष्टिमन्धे
न योजयेत् । तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत् । कोऽसौ ? दृष्टात्मा
देहा भेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥ ६२ ॥

भावार्थ—एक लँगड़ा अन्धे के कंधेपर चढ़ा जारहा है और ठाक
मार्गसे चलनेके लिये उस अन्धेको इशारा करता जाना है, मग चलनेमें
दृष्टि लँगड़ेका और पद टांगे अन्धेको काम करता है । इस भेदको ठाक
न जानते वाला कोई पुरुष यदि यह समझते कि यह अन्धा हो कैसा
मावधानीसे देखकर चलरहा है तो वह जिन प्रकार उसका भ्रम होगा
उसा प्रकार शरोराहृद आत्मा को दर्शनादिकृ कियाओंको न समझकर
उन्हें शरोरका मानना भी भ्रम है और इसके कारण आत्मा और शरीर
दोनोंका एक क्षेत्रावभावस्थिति सम्बन्ध है । आत्मा और शरीरके भेदको ठाक
न समझने वाला बहिरात्मा हो ऐसे भ्रमका शिकार होता है ॥ ६१ ॥

सयोगको ऐसा अवश्यमें अन्तरात्मा क्या करता है, उसे बतलाने हैं—

अन्धयार्थ—(दृष्टिभेदः) जो लँगडे और अन्धे के भेदको तथा उसका
कियाओंको ठाक समझता है वह (यथा) जिनप्रकार (पंगोदृष्टि) लँगडे का
दृष्टिको (अन्धे) अन्धे पुरुषमें (न योजयेत्) नहीं जोड़ता—अन्धे का मग
देखकर चलने वाला नहीं मानता—(तथा) उसी प्रकार (दृष्टात्मा) आत्मा
को शरीरादि परगदायीसे भिन्न अनुभव करने वाला अन्तरात्मा (आत्मनः
दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको—उसके ज्ञानदर्शन स्वभावको (देह) शरीरमें (न
योजयेत्) नहीं जोड़ता है—शरीरको ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है ।

भावार्थ—जिस पुरुषको अन्धे और लँगडेका भेद ठाक मालूम होता
है ऐसा समझदार मनु य जिस प्रकार दोनोंके संयुक्त होनेपर भ्रममें नहीं

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

सुसोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।

विभ्रमोऽक्षोणदोषस्य सर्वावस्थाऽन्तर्मदर्शिनः ॥६३॥

टीका—सुसोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते । केषाम् ? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम् । आत्मदर्शिनोऽन्तर्मनः पुनरक्षीणदोषस्य मोहाकान्तस्य बहिरात्मनः सम्बंधिन्यः सर्वावस्थाः सुसोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि विभ्रमः प्रतिभासते यथावद्स्तुप्रतिभासाभावात् । अथवा—सुसोन्मत्ताद्यवस्थैव एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन

पड़ता—अन्धेको दृष्टिहोन और लंगड़ेको दृष्टिवान् समझता है—उसीप्रकार भेदविज्ञानो पुरुष आत्मा और शरारके संयोगवश भ्रममें नहीं पड़ता—शरारको चेतनारहित जड़ और आत्माको ज्ञानदर्शनस्वरूप हो समझता है, कदाचित् भी शरीरमें आत्माका कल्पना नहीं करता ॥ ६२ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्माको कौनसी अवस्था भ्रमरूप और कौनसी भ्रमरहित मालूम होती है उम्म बनलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनाम्) आत्मस्वरूपका वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओंको (सुसोन्मत्तादि अवस्था एव) केवल मोर्नेव उन्मत्त होनेकी अवस्था हो (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है । किन्तु (आत्मदर्शिनः) आत्मानुभवो अन्तरात्माको (अक्षीणदोषस्य) मोहाकान्त बहिरात्माकी (सर्वावस्थाः) सर्व हो अवस्थाएँ—सुस और उन्मत्तादि अवस्थाओंको तरह जाग्रत्, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी—(विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती हैं ।

द्वितीय अर्थ—टीकाकारने ‘अनात्मदर्शिनां’ पदको ‘न आत्मदर्शिनां’ ऐसा मानकर और ‘सर्वावस्थात्मदर्शिनां’ को एक पद रखकर तथा ‘एव’ का अर्थ ‘भी’ लगाकर जो दूसरा अर्थ किया है वह इस प्रकार है—

आत्मदर्शी पुरुषोंको सुस व उन्मत्त अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नहीं होतीं; क्योंकि दृढ़तर अभ्यासके कारण उनका चित्त आत्मरससे भोगा रहता है—स्वरूपसे उनको चपुति नहीं होती—इन्द्रियोंकी शिथिलता या रोगादि-

सुसोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि न विभ्रमः । केषाम् ? आत्मदर्शिनां दृढतराभ्यासात्तद-
वस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिकल्यासभवात्तच ।
यदि सुसाद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं
सुसादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् । यतस्तत्रेन्द्रियाणां स्वविषये निद्रया प्रति-
बन्धात्तद्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति । तर्हि कस्याऽसौ विभ्रमो
भवति ? अक्षीणदोषस्य बहिरात्मनः । कथम्भूतस्य ? सर्वावस्थात्मदर्शिनः
सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुसोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवं
शीलस्य ॥ ६३ ॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भवि-
ष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।

देहात्मदृष्टिज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥ ६४ ॥

के वश उन्हें कदाचित् मृद्गी भी आजाती है तो भी उनका आत्मानुभव-
रूप संस्कार नहीं छूटता—वह घराघर बना ही रहता है । किन्तु अक्षीण-
दोष बहिरात्माके, जो बाल युवादि सभी अवस्थारूप आत्माको अनुभव
करता है, वह सब विभ्रम होता है ।

भावार्थ—जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उनको केवल सुप्त व
उन्मत्त जैसी अवस्थाएँ ही भ्रमरूप मालूम होती हैं किन्तु आत्मदर्शियोंको
मांहके वशीभूत हुए रागी पुरुषोंकी सभी अवस्थाएँ भ्रमरूप जान पड़तीं
हैं—भले ही वे जाग्रत, प्रबुद्ध तथा अनुन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ ही क्यों न हों ।
वास्तवमें बहिरात्मा और अतरात्माकी अवस्थामें बड़ा भेद है—अन्त-
रात्मा आत्मस्वरूपमें सदा जाग्रत रहता है, जब कि बहिरात्माकी इससे
विपरीत दशा होती है ॥ ६३ ॥

यदि कोई कहे कि बाल-बृद्धादि सर्व अवस्थारूप आत्माको मानने
बाला सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करलेनेसे निद्रारहित हुआ मुक्तिको
प्राप्त हो जाएगा, तो उसके प्रति आवार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा

टीका—न मुच्यते न कर्महितो भवति । कोऽसौ ? देहात्मदृष्टिर्वहि-
रात्मा । कथम्भूतोऽपि ? विदिताशेषशास्त्रोऽपि परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि देहात्म-
दृष्टिर्यतः देहात्मनोर्भेदस्त्वचिरहितो यतः । पुनरपि कथम्भूतोऽपि ? जाग्रदपि
निदयाऽनभिभूतोऽपि । यस्तु ज्ञातात्मा परिज्ञातात्मस्वरूपः स सुप्तान्मत्तोऽपि
मुच्यते विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्पुण्ड्राद्यवस्थायामप्यात्म-
स्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥ ६४ ॥

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह—

यत्रैवाहितधोः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लोयते ॥ ६५ ॥

(विदिताशेषशास्त्रः अपि) सम्पूर्ण शास्त्रोंका जानने वाला होनेपर भी तथा
(जाग्रत् अपि) जागना हुआ भी (न मुच्यते) कर्मबंधनमें नहीं छुट्टा है ।
किन्तु(ज्ञातात्मा) जिसने आत्माके स्वरूपको देहसे भिन्न अनुभव कर लिया
है ऐसा विवेकी अन्तरात्मा (सुप्तान्मत्तः अपि) सोना और उन्मत्त हुआ
भी (मुच्यते) कर्मबंधनसे मुक्त हाता है--विशिष्टरूपमें कर्मोंका निर्जरा
करता है ।

भावार्थ—अनेक शास्त्रोंके जानने तथा जाग्रत् रहनेपर भी भेदविज्ञान
एवं देहसे आत्माको भिन्न करनेको ऋचिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो
सकती । देहात्मदृष्टिका शास्त्रज्ञान तोतेका राम राम रटनके समान भाव-
भासनाके बिना आत्महितका साधक नहीं हो सकता । प्रत्युत इसके,
भेदविज्ञानी होनेपर सुप्त और उन्मत्त-जैसों अवस्थाएँ भी आत्माका
कोई विशेष अहित नहीं कर सकतीं, क्योंकि दृढतर अभ्यासके वश उन
अवस्थाओंमें भी आत्मस्वरूप संवेदनसे च्युति न होनेके कारण विशिष्ट-
रूपसे कर्मनिर्जरा होतो रहता है, और यह कर्मनिर्जरा ही बन्धनका पग्ब-
सान एवं मुक्तिका निशान है । अतएव भेदविज्ञानको प्राप्त करके उसमें
अपने अभ्यासको दृढ करना सर्वोपरि मुख्य और उपादेय है । ॥ ६४ ॥

सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर बना रहाता है, इस
बातको स्पष्ट करते हैं—

टीका—यत्रैव यस्मिन्नेव विषये आहितधीः दत्तावधाना बुद्धिः । “यत्रात्महितधीरिति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्र धीबुद्धिगिति” । कस्य ? पुंसः । श्रद्धा रुचिस्तस्य तत्रैव तस्मिन्नेव विषये जायते । यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयये आसक्तं भवति ॥ ६५ ॥

क पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निर्वर्तते ।

यस्मान्निर्वर्तते श्रद्धा कुतश्चित्स्य तल्लयः ॥६६॥

टीका—यत्र यस्मिन्विषये अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः । “यत्रात्महितधीरिति च पाठः यत्र च अहितधीनुपकारकबुद्धिः ।” कस्य ? पुंसः ।

अन्वयार्थ—(यत्र एव) जिस किसी विषयमें (पुंसः) पुरुषका (आहितधीः) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है (तत्रैव) उसी विषयमें उनका (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न हो जाता है और (यत्र एव) जिस विषयमें (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न हो जाता है (तत्रैव) उस विषयमें हा (चित्तं लीयते) उसका मन लीन हो जाना है—नन्मय बन जाना है ।

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्यको बुद्धि संलग्न होती है—खूब सावधान रहती है—उसीमें आसक्ति बढ़कर उसको श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वहाँ चित्त लीन रहता है । चित्तकी यह लीनता ही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओंमें मनुष्यको उस विषयको ओरमें हटने नहीं देना—मानेमें भी वह उसीके स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसीको बातें किया करता है ॥ ६५ ॥

अब चित्त कहांपर अनासक्त होता है, उसे बनलाने हैं—

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस विषयमें (पुंसः) पुरुषकी (अनाहितधीः) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती (तस्मात्) उसमें (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जानी है—दूर हो जाती है (यस्मात्) जिसमें श्रद्धा (निवर्तते) हट जानी है (चित्तस्य) चित्तकी (तल्लयः कुतः) उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती ।

तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते । यस्माज्जिवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्स्य
तल्लयः तस्मिन् विषये लय आमक्तिस्तल्लयः कुतो नैव कुतश्चिदपि ॥६६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तदूध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्ना-
त्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।

वर्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥६७॥

टीका—भिन्नात्मानमागधकात् पृथग्भूतमात्मानमहृत्सद्गुणं उपास्यारा-
ध्य आत्मा आगधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशोऽहृत्सद्गुण-
मदुशः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि । दीपाङ्गिना वर्तिर्यथा दीपमु-
पास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति ॥ ६७ ॥

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्यको बुद्धि संलग्न नहीं होती—
भले प्रकार मावधान नहीं रहती—उसमेंमें अनामक्ति बढ़कर अद्वा उठ-
जाती है, और जहांमें अद्वा उठजाती है वहां फिर चित्तकी लीनता नहीं
हो सकती । अतः किसी विषयमें आमक्ति न होनेका रहस्य बुद्धिको
उस विषयकी ओर आधक न लगाना ही है—बुद्धिका जितना कम व्या-
पार उस नरफ किया जायगा और उसे अहितकारी समझकर जितना
कम योग दिया जायगा उतनो ही उस विषयमें अनामक्ति होती जायगी ।
और फिर सुस तथा उन्मत्त अवस्था होजानेपर भी उस ओर चित्तकी
वृत्ति नहीं जायगी ॥ ६६ ॥

जिस विषयमें चित्त लीन होना चाहिये वह ध्येय दो प्रकारका है—
एक भिन्न, दूसरा अभिन्न । भिन्नात्मा ध्येय में लीनताका फल क्या होगा,
उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यह आत्मा (भिन्नात्मानं) अपनेमें भिन्न अर्हन्त-
मिद्गुण परमात्माकी (उपास्य) उपासना-आराधना करके (तादृशः) उन्हीं-
के समान (परः भवति) परमात्मा होजाना है (यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः)
दीपकमें भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्तो भी (दीपं उपास्य) दीपककी
आराधना करके—उसका सामोर्घ्य प्राप्त करके (तादृशी) दीपक स्वरूप (भवति)

इदानीमभिज्ञात्मनोपासने फलमाह—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।

मथित्वाऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ६८ ॥

टीका—अथवा आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य आत्मा परमः परमात्मा जायते । अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह—मथित्वेत्यादि । यथाऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मा (?) तरुः स्वत एवाग्निर्जायते ॥ ६८ ॥

होजानी है ।

भावार्थ—जिसमें चित्तको लगाना चाहिये ऐसा आत्मध्येय दो प्रकार का है—एक तो स्वयं अपना आत्मा, जिसे अभिज्ञ ध्येय कहते हैं; और दूसरा वह भिज्ञ आत्मा जिसमें आत्मगुणोंका पूर्ण विकास होगया हो, जैसे अहंत-मिद्द्रका आत्मा, और जिसे भिज्ञ ध्येय समझना चाहिये । ऐसे भिज्ञ ध्येयकी उपासनासे भी आत्मा परमात्मा बनजाना है । इसको समझानेके लिये बत्ती और दीपकका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर दिया गया है । बत्ती अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व भिज्ञ रखते हुए भी जब दीपक-की उपासनामें तन्मय होती है—दीपकका सामोप्य प्राप्त करती है—तो जल उठता है और दीपकस्वरूप बन जाना है । यहाँ भिज्ञात्मध्येयरूप अहंत-मिद्द्रकी उपासनाका फल है ॥ ६७ ॥

अब अभिन्नात्माकी उपासनाका फल बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अथवा) अथवा (आत्मा) यह आत्मा (आत्मानम् एव) अपने चित्स्वरूपको हो (उपास्य) चिदानन्दमय रूपमें आराधन करके (परमः) परमात्मा (जायते) होजाना है (यथा) जैसे (तरुः) बांसका वृक्ष (आत्मानं) अपनेको (आत्मैव) अपनेसे ही (मथित्वा) रगड़कर (अग्निः) अग्निरूप (जायते) होजाना है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बांसका वृक्ष बांसके साथ रगड़ खाकर अग्निरूप होजाना है उसी प्रकार यह आत्मा भी आत्माकी-आत्मीय गुणोंकी-आराधना करके परमात्मा बन जाता है । बांसके वृक्षमें जिस प्रकार अग्नि-

उक्तमर्थमुपसंहत्य फलमुपदर्शयन्नाह—

इतीदं भावयेन्नियमवाचांगोचरं पदम् ।

स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ६६ ॥

इति एव मुक्तप्रकारेण इदं भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं भावयेत् नित्यं सर्वदा । ततः किं भवति ? तत्पदं माक्षस्थानं । कथम्भूतं ? अवाचांगोचरं वचनैरनिर्देश्यं । कथं तत्प्राप्नोति ? स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात् । यतः प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे पुनर्न भ्रमति ॥ ६६ ॥

शक्तिरूपसे विद्यमान होती है और अपने ही आत्मरूपके माथ संघर्षका निमित्त पाकर प्रकट होजानी है उसी प्रकार आत्मामें भी पूर्ण ज्ञानादि गुण शक्तिरूपमे विद्यमान होते हैं और वे आत्माका आत्माके माथ संघर्ष होनेपर प्रकट होजाते हैं । अर्थात् जब आ मा आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये अपने अन्य बाह्याभ्यन्तर संकल्प-विकल्परूप ध्यापारांमे उपयोगको हटाकर स्वरूप-चिन्तनमें एकाग्र कर देता है तो उसके बे गुण प्रकट होजाते हैं—उस संघर्षमे ध्यानरूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईधनको जला देती है । और तभी यह आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥ ६८ ॥

अब उक्त अर्थका उपसंहार करके फल दिखाने हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इति) उक्त प्रकारमे (इदं) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूपकी (नित्यं) निरन्तर (भावयेत्) भावना करनी चाहिये । ऐसा करनेसे (तत्) उस (अवाचांगोचरं पदं) अनिर्वचनीय परमात्मपदको (स्वत एव) स्वयं ही यह जीव (आप्नोति) प्राप्त होता है (यतः) जिस पदमे (पुनः) फिर (न आवर्तते) लौटना नहीं होता है—पुनर्जन्म लेकर संमारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता है ।

भावार्थ—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये आत्मस्वरूपके पूर्ण विकासको प्राप्त हुए अहन्न और सिद्ध परमात्माका हमें निरंतर ध्यान करना चाहिये—तद्रूप होनेकी भावनामें रत रहना चाहिये—अथवा अपने अस्तिमाको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये । ऐसा

न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकान्द्रीरात्तत्त्वान्तरभृतः मिद्द इति चार्वाकाः ।
सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलभ्मसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि ।

अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं येगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

टीका—चित्तत्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि भूतजं पृथिव्यप्तेजावाय-
लक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यन्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण

होनेपर ही उस बचन-अगो र अर्तान्दिय परमात्मपदको प्राप्ति हो सकेगी,
जिसे प्राप्त करके फिर इस जीवको दूसरा जन्म लेकर संनारमें भटकना
नहीं पड़ता—वह सदाके लिये अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहता है और सब
प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ६६ ॥

वह आत्मा पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चार तत्त्वरूप जो शरोर है
उसमें भिन्न किसी दूसरे तत्त्वरूप मिद्द नहीं होता है, ऐसा चार्वाक मन
बाले मानते हैं, तथा आत्माके मदा स्वरूपकी उपलब्धि संवेदना बनो
रहनेमें वह मदा हो मुक्त है, ऐसा मांख्यलोगोंका मन, है इन दोनोंको
लक्ष करके उनके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयाथ—(चित्तत्वम्) चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व (यदि
भूतजं) यदि भूतज है—चार्वाकमनके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और
वायुरूप भूतचतुष्टयमें उत्पन्न हुआ है अथवा मांख्यमनके अनुसार
महज शुद्धात्मस्वरूपमें उत्पन्न है—उस शुद्धात्मस्वरूपके संवेदनद्वारा
लब्ध्यात्मरूप है, तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यन्में मिद्द होनेवाला
नहीं रहेगा अर्थात् चार्वाकमनका अपेक्षा, जो कि शरोरके छूट जानेपर
आत्मामें किसी विशिष्टावस्थाकी प्राप्तिका अभाव बतलाता है, मरणरूप
शरीरका विनाश होनेमें आत्माका अभाव होजायगा और यहो अभाव
बिना यसका निर्वाण होगा, जो इष्ट नहीं हो सकता । और सांख्यमनकी
अपेक्षा स्वभावसे ही मदा शुद्धात्मस्वरूपका लाभ मानलेनेसे मोक्षके
लिये ध्यानादिका कोई उपाय करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, और
इस तरह निरूपाय-मुक्तिकी प्रमिद्वि होनेसे बिना यन्में ही निर्वाण
होना ठहरेगा जो उस मतके अनुयायियोंको भी इष्ट नहीं है । (अन्यथा)**

साध्यं निर्वाणं न भवति । एतच्छ्रीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तयोगस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः । सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं । सदा शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरूपायमुक्तिप्रमिष्टः । अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम् । तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं । भूतशब्दाऽत्र स्वभाववाची । मनो वाक्कायेन्द्रियैविक्षिप्तात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मवंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात् । अथवा अन्यथा प्रागब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्त्वं न भवति । तदा योगतः स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्विर्वाणं । यत एवं तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे दुर्धरानुष्ठाने क्वेदनभेदनादौ वा योगिनां दुःखं न भवति । आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥ १०० ॥

यदि चैतन्य आत्मा भूतचतुष्यजन्य तथा सदाशुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करने वाला निष्पन्नमुक्त नहीं है । तो फिर (योगतः) योगमे-स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करनेमे ही निर्वाणकी प्राप्ति होगी (तस्मात्) चूंकि वस्तुतत्त्वकी ऐसी स्थिति है इसलिये (योगिनां) निर्वाणके लिये प्रयत्नशील योगियोंको (क्वचित्) किसी भी अवस्थामें—दुर्धरानुष्ठानके करने तथा क्वेदन-भेदनादिरूप उपसर्गके उपस्थित होनेपर—(दुःखं न) कोई दुःख नहीं होता है ।

भावार्थ—आत्मतत्त्व यद्यपि चेतनामय निष्पन्न पदार्थ है परन्तु अनादिकर्मपुद्गलोंके सम्बन्धमें विभावपरिणनिरूप परिणाम रहा है और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं है । ध्यानादि मन्त्रयत्न ढारा-उस परिणामिका दृरहोना ही स्वरूपमें स्थिर होना है और उसीका नाम निर्वाण है । चार्वाककी कल्पनानुसार यह जीवात्मा भूतचतुष्यजन्य नहीं है । भूतचतुष्यजन्य अनित्य शरीरको आत्मा मानना श्रम तथा मिथ्या है और ऐसा माननेमें

नन्वात्मना मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदा-
इस्तत्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

स्वप्ने हृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्त यथात्मनः ।

तथा जागरहृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥ १०१ ॥

शरीरका नाश होनेपर आत्माका स्वतः अभाव हो जाना ही निर्वाण उद्धरेगा, जो किमी तरह भी हृष्ट नहीं हो सकता । ऐसा कौन बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाशका प्रयत्न करे ? इसो तरह मांख्यमतकी कल्पनाके अनुसार आत्मा मदा ही शुद्ध-बुद्ध तथा स्वस्थोपलब्धिको लिये हुए नित्यमुक्तस्वरूप भी नहीं है । ऐसा माननेपर निर्वाणके लिये ध्यानादिके अनुष्ठानका कोई प्रयोजन तथा विधान नहीं बन सकेगा । मांख्यमतमें निर्वाणके लिये ध्यानादिका विधान है और इस लिये मदा शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धिस्तर मुक्तिकी वह कल्पना निःसार जान पड़ती है । जब ये दोनों कल्पनाएँ ठीक नहीं हैं तब जैनमतकी उक्त मान्यताको मानना ही ठीक होगा, और उसके अनुसार योगाराधनद्वारा स्वरूप-संचेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करके मकल विभाव-परिणामिको हटाने हुए शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप निर्वाणका होना बन मकेगा । इस आत्ममिद्विके मदुद्देश्यको तेकर जो योगिजन योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं वे स्वेच्छा । अनेक दुर्भार तपश्चरणोंका अनुष्ठान करते हुए खेदमित्र नहीं होते और न दूसरोंके किये हुए अथवा स्वयं बन आए हुए उपसर्गोंपर दुःख ही मानते हैं—ऐसी घटनाओंके घटनेपर वे बराबर अपने माम्यभावको स्थिर रखते हैं ॥ १०० ॥

यदि कोई कहे कि मरणरूप विनाशके समुपस्थित होनेपर उत्तरकालमें आत्माका मदा अस्तित्व कैसे बन सकता है ? ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(स्वप्ने) स्वप्नकी अवस्थामें (हृष्टे विनष्टे अपि) प्रस्त्यक्ष देखेजाने वाले शरीरादिके विनाश होनेपर भो (यथा) जिस प्रकार (आत्मनः) आत्माका (नाशः न अस्ति) नाश नहीं होता है (तथा) उसी प्रकार (जागर-हृष्टे अपि) जाग्रत अवस्थामें भी हृष्ट शरीरादिका विनाश होनेपर आत्मा

टीका—स्वप्ने स्वप्नावस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो
यथा नाशो नास्ति तथा जाग्रदृष्टेऽपि जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि
शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति । ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिवशादात्मनो
विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं । न खलु शरीरविनाशे
आत्मनो विनाशमभ्रान्तो मन्यते । तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपन्नो
विपर्यासाविशेषात् । यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे
विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि ॥ १०१ ॥

नन्वेव प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्गग्नुष्टानक्लेशो
व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—

*अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।

तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

का नाश नहीं होता है । (विपर्यासाविशेषतः) क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं-
में जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भैंद नहीं है ।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमें मत् पदर्थ है और मतका कभी नाश
नहीं होता—पर्यायें जरूर पलटा करता हैं । स्वप्नमें शरीरका नाश होनेपर
जिसप्रकार आत्माके नाशका भ्रम होता है किन्तु आत्माका नाश नहीं
होता उसीप्रकार जाग्रत् अवस्थामें भी शरीरपर्यायके विनाशमें जो
आत्माका विनाश समझ लिया जाता है वह भ्रम ही है—दोनों ही
अवस्थाओंमें होने वाले भ्रम समान हैं—एकको भ्रम मानना और दूसरेको
भ्रम माननेमें इनकार करना ठोक नहीं है । वस्तुतः फौपड़ोके जलने पर
जैसे तद्दूत आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा भी
नष्ट नहीं होता है । आत्मा एक अखंड और अविनाशी पदार्थ है उसके
खण्ड तथा विनाशको कल्पना करना हो नितान्त मिथ्या है ॥ १०१ ॥

जब इसप्रकार आत्मा अनादिनिधम प्रसिद्ध है तो उसको मुक्तिके
लिये दुर्द्वर तपश्चरणादिके द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ है; क्योंकि मात्र ज्ञान-

* सुहेण भाविदं णागं दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्या दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

—मोक्षप्राप्ते, कुन्दकुन्दः

टीका—अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपकर्मण भावित-
मेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीगदिभ्यो भेदेनात्मस्वरूप-
पविज्ञानं क्षीयते अपकृष्ट्यते । कस्मिन् ? दुःखसन्निधौ दुःखोपनिपाते सति ।
यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनितिकर्मण मुनिर्योगी आत्मानं
दुःखैभावयेत् कायक्लेशादिकष्टैः सदाऽऽत्मस्वरूपं भावयेत् । कष्टसहो-
भवन्मदाऽऽत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु यद्यात्मा शरीरसर्वथाभिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन
तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

प्रदत्तनादात्मनो वायुरिन्द्रियाद्वेषप्रवर्तितात् ।

वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

भावनामें ही मुक्तिकी मिद्दि होती है, ऐसा आशका करने वालेके प्रति
आचाय कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अदुःखभावितं ज्ञानं) जो भेदविज्ञान दुःखोंकी भावनासे
रहित है—उपार्जनके लिये कुछ कष्ट उठाए विना ही महज सुकुमार
उपाय-ठारः बन आता है—बह (दुःखसन्निधौ) परिषह-उपसर्गादिक दुःखों-
के उपस्थित होनेपर (क्षीयते) नष्ट होजाता है । (तस्मात्) इस लिये
(मुनिः) अतरात्मा योगीको (यथाबलं) अपनी शक्तिके अनुसार (दुःखै)
दुःखोंने साथ (आत्मानं भावयेत्) आत्माकी शरीरादिसे भिन्न भावना
करना चाहिये ।

भावार्थ—जबतक योगो कायक्लेशादि तपश्चरणोंका अभ्यास करके
कष्टसहिष्णु नहीं होता तबतक उसका ज्ञानाभ्यास—शरीरसे भिन्न
आत्माका अनुभवन—भी स्थिर रहनेवाला नहीं होता । वह दुःखोंके
आजानेपर विचलित होजाता है और सारा भेदविज्ञान भूल जाता है ।
इस लिये ज्ञानभावनाके साथ कष्ट-सहनका अभ्यास होना चाहिये, जिस-
से उपार्जन किया हुआ ज्ञान नष्ट न होने पावे ॥ १०३ ॥

यदि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो फिर आत्माके चलनेपर
नियमसे शरीर कैसे चलता है और आत्माके ठहरनेपर शरीर कैसे ठहरता

टीका—आत्मनः सम्बंधिनः प्रयत्नाद्वायुः शरीरे समुच्चलति कथंभूतात् प्रयत्नात् ? इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् रागद्वेषाभ्यां जनितात् । तत्र समुच्चलितात्त्व वायोः शरीर्यंत्राणि शरीरागयेव यंत्राणि शरीरयंत्राणि । किं पुनः शरीरणां यंत्रैः साधर्म्यं यतस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते ? इति चेत् उच्यते—यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधकियाणां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीरागयपीत्युभयोस्तुत्यता । तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते । केषु ? कर्मसु । कथम्भूतेषु ? स्वेषु स्वसाध्येषु ॥ १०३ ॥

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुर्वत-इत्याह—

है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्माके (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्) राग और द्वेषकी प्रवृत्तिसे होनेवाले प्रयत्नमें (वायुः) वायु उत्पन्न होता है—वायुका शरीरमें संचार होता है (वायोः) वायुके संचारमें (शरीर्यंत्राणि) शरीररूपी यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने अपने कार्य करनेमें(वर्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयमें आन्यामें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग द्वेषकी उत्पत्तिमें मन-वचन-काभकी क्रियारूप जो प्रयत्न उत्पन्न होता है उसमें आत्माके प्रदेश चंचल होते हैं, आन्यप्रदेशोंकी चंचलतामें शरीरके भीतरको वायु चलता है और उस वायुके चलनेमें शरीररूपी यंत्र अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं । यदि कोई कहे कि शरोरोंकी यंत्रोंके माथ क्या कोई ममान-धर्मता है जिसके कारण उन्हें यंत्र कहा जाता है तो इसके उत्तरमें इनना हो जानेना चाहिये कि काष्ठादिके बनाये हुए हाथी घोड़े आदिरूप कलदार ग्विलोने जिस प्रकार दूधरोंकी प्रेरणाको पाकर हिलने-चलने लगजाते हैं—अर्थात् अपनेसे किये जाने योग्य नाना प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके अंग-उपांग भी वायुकी प्रेरणासे अपने योग्य कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होते हैं । दोनों ही इस विषयमें समान हैं ॥ १०३ ॥

उन शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीवक्या करते हैं, उसे बतलाते हैं—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाएया स्तेऽसुखं जडः ।

त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १०४ ॥

टीका—तानि शरीरयंत्राणि साक्षाणि इन्द्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो बहिरगत्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते । विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं ? तत्परमं पदं मोक्षं । किं कृत्वा ? त्यक्त्वा । कं ? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यव्यवसायम् ॥ १०४ ॥

कथमसौ तं त्यजतीत्याह—अथवा स्वकृतयन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्तेत्याह—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।

अन्वयार्थ—(जडः) मूर्ख बहिरात्मा (साक्षाणि) इन्द्रियों सहित (तानि) उन औदारिकादि शरीरयंत्रोंको (आत्मनि समारोप्य) आत्मामें आरोपण करके—मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूपसे उनमें आत्मवक्ता कल्पना करके—(असुखं आस्ते) दुःख भोगता रहता है (पुनः) किन्तु (विद्वान) ज्ञानी अंतरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) शरीरादिकमें आत्माकी कल्पनाको छोड़कर (परमं पदं) परमपदरूप मोक्षको (प्राप्नोति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मूढ बहिरात्मा कर्त्तव्यं रित शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अपने आत्माका ही क्रियायें समझता है और इस तरह भ्रममें पड़कर विषय-कषायोंके जालमें फँसता हुआ अपनेको दुःखो बनाता है। प्रत्युत इसके, विवेकी अंतरात्मा ऐसा न करके शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मामें भिन्न अनुभव करता है और इस तरह विषय-कषायोंके जालमें न फँसकर कर्मबन्धनसे छूटता हुआ परमात्मपदको प्राप्त करके सदा के लिये परमानन्दमय हो जाता है ॥ १०४ ॥

आत्मा उस आरोपको कैसे छोड़ता है उसे बतलाते हैं—अथवा श्री पूज्यपाद आचार्य अपने ग्रंथका उपसंहार करके फल प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ- स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥ १०५ ॥

टीका—उपैति प्राप्नोति । किं तत् ? सुखं । कथम्भूतं ? ज्योतिर्मयं ज्ञानात्मकं । किं विशिष्टं सञ्चसौ तदुपैति ? जननाद्विमुक्तः संसाराद्विशेषेण मुक्तः । ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतः सम्भवति ? परमात्मनिष्ठः परमात्म-स्वरूपसंवेदकः । किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात् । मुक्त्वा । कां ? परमा-(परा ?)त्मबुद्धिं अहंधियं च स्वात्मबुद्धिं च । क्व ? परत्र शरीरादौ । कथम्भूतं ? संसारदुःखजननीं चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां । यतस्तथाभूतां तां त्यजेत् । किं कृत्वा ? अधिगम्य । किं तत् ? समाधितंत्रं समाधेः परमात्मस्वरूपसंवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनतायाः वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं । कथम्भूतं तत् ? तन्मार्गं तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्ग) उस परमपदकी ग्रासिका उपाय बतलाने वाले (एतत् समाधितंत्रम्) इस समाधितंत्रको—परमात्मस्वरूप संवेदनकी एकाग्रताको लिये हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस ‘समाधितंत्र’ नामक शास्त्रको (अधिगम्य) भलेप्रकार अनुभव करके (यगत्मनिष्ठः) परमात्माका भावनामें स्थिरचित्त हुआ अन्तरात्मा (संसारदुःखजननीं) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली (परत्र) शरीरादि परपदार्थोंमें (अहंधियं परबुद्धिं च) जो स्वा भवुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको (मुक्त्वा) छोड़कर (जननाद्विमुक्तः) संसारमें मुक्त होता हुआ (ज्योतिर्मयं सुखं) ज्ञानात्मक सुखका (उपैति) प्राप्त करलेता है ।

भावार्थ—इस पद्यमें, ग्रंथके विषयका उपसंहार करते हुए, श्री पूज्यपाद आचार्यने उस बुद्धिको संसारके समस्त दुःखोंकी जननी बतलाया है जो शरीरादि परपदार्थोंमें स्वात्मा-परात्माका आरोप किये हुए है—अर्थात् अपने शरीरादिको अपना आत्मा और परके शरीरादिको परका आत्मा समझती है । ऐसी दुःखमूलक बुद्धिका परिस्थाग कर जो जीवात्मा परमात्मामें निष्ठावान होता है—परमात्माके स्वरूपको अपना स्वरूप

टोका-प्रशस्तिः

येनात्मा वहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो,
 मोक्षोऽनन्तचतुष्टयाऽमलवपुः सद्व्यानतः कीर्तिः ।
 जीयात्सोऽत्रजिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
 भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥ १ ॥
 इनि श्रीपरिणितप्रभाचन्द्रविरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता ॥

समझकर उसके आराधनमें तत्पर एवं सावधान होना है—
 वह संमारके बन्धनोंमें छूटना हुआ केवलज्ञानमय परम सुखको
 प्राप्त होना है। माथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ‘समाधितंत्र’ ग्रंथ
 उक्त परमसुख अथवा परमपदकी प्राप्तिका मार्ग है—उपाय प्रदर्शित करने
 वाला है। इसको भले प्रकार अध्ययन तथा अनुभव करके जीवनमें
 उतारनेमें वह प्राप्ति सुखसाध्य होजाती है और इस तरह इस ग्रंथकी
 भारी उपयोगिताको प्रदर्शित किया है ॥ १०५ ॥

अन्तिम मंगल-कामना

जिनके भक्ति-प्रमादसे, दूर्ण हुआ व्याख्यान ।
 सबके उर्मंदिर बसो, पूज्यपाद भगवान् ॥ १ ॥
 पढ़ें सुनें सब ग्रन्थ यह, सेवें अनिहित मान ।
 आत्म-समुद्रनि-बीज जाओ, करो जगत् कल्यान ॥ २ ॥



समाप्तोऽयं ग्रन्थः

समाधितंत्र सटीकका शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२४	वास	श्राम
२	२५	कालचक्रविनिर्मलः	कालचक्रविनिर्मलः
३	२	आत्मानम्	आत्मानम्
४	५	जलानयोः	जलानलयोः
५	२६	भिन्न	भिन्न भिन्न
६	४	कस्य वा	कस्य वा त्यागः
११	२	लोपपित्यस्य नियन्ते	लोपपित्यस्याऽनियन्ते
१२	३	स्वरूपाप्रन्त्युनः	स्वरूपादप्रन्त्युनः
१३	१२	इन्द्रियद्वाराः	इन्द्रियद्वाराः
१३	२७	मृद्दिन्द्रीचा	मृद्दिन्द्रीचो
१४	३	नरम	नरम
१४	७	विमन्यते	मन्यते
१४	१५	कनुप्य	मनुप्य
१४	२२	३२	३२
१४	२३	वेत्य	वेत्य
१४	२३	तत्र	तत्र
१५	११	बार्य	बार्यका
१६	२५	३२	३२
१६	५	स्वरूपानां	स्वरूपाणां
१७	८	करोति	करोति देहिनं
२१	५	स एवात्मधाः	स एवात्मा इति धाः
२२	६	इन्द्रियद्वाराः	इन्द्रियद्वाराः
२३	४	लक्षणान्म	लक्षणान्
२४	७	परिष्ठ नान्यूर्वं	परिष्ठानान्यूर्वं
२५	१६	फिर उस	उस
२५	१	पञ्च	पञ्चा
२७	२७	अ त्यानं	आत्मानं
२८	१	अवव्ययं	अवव्ययं
२८	६	भुजनोऽपि	भुजानोऽपि
२८	१३	जाना है	जानता है
२९	२	भुजानोऽपि	भुज्जानोऽपि
३०	४	सस्य चेतमः	सस्य चेतमः
३२	१२	झानाभ्य स	झानाभ्यास
३४	४	ज्ञानयेत्	योजयेत्
३४	१६	झमो शम	क्षयोपशम
३५	१६	(अचेतन)	(अचेतनं)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	२	मृढा	मृढो
५४	१०	(अम्तु)	(अम्तु)
५८	८	अनात्मीयात्सभूतेषु	अनात्मीयात्मभूतेषु
६८	९	बहिरत्तमा	बहिरात्मा
६०	३-४	व्यववस्थितः	व्यवस्थितः
६१	१	मृढात्मनो	मृढात्मानो
६२	१०	अन्तमुखी	अन्तमुखी
६३	५	एवानुरागादिति	एवानुरागादिति
६५	२२	कमके	कमके
७१	३	स्थूलोऽह	स्थूलोऽह
७१	२६	मुढउ	मुढउ
७२	२५	संगर्ग	संमर्ग
७३	१२	संकल्प	संकल्प
७५	६	परमाश्रयो	परमाश्रयो
७५	१४	(निर्वाणिमेव)	(निर्वाणिमेव)
७६	८	आत्मनो	आत्मनः
७७	३	विनाशात्पादौ	विनाशात्पादौ
७७	४	वस्त्र	वस्त्रं
७७	९	मुषुप्राश्रात्मगोचरे	मुषुप्राश्रात्मगोचरे
७८	८	जागर्यात्मगोचरे	जागर्यात्मगोचरे
८०	२७	लतलाने	लतलाने
८१	७	पुण्यापुण्ययोव्ययो	पुण्यापुण्ययोव्ययो
८२	२४	।	है ।
८४	१६	मन-हा-मन	मन-हा-मन
८५	९	होना है	होना है
८६	९	आगम-सम्बन्धा	आगम-सम्बन्धी
८९	८	देहाभेदेन	देहाद्वेदेन
८९	२७	मनुय	मनुय
९२	२३	पर्यवसान	पर्यवसान
९२	२६	रहता	रहता
९३	४	लीयये	लीयते
९६	२४	आत्मस्वरूपके	आत्मस्वरूपके
९८	१	निर्वाण	निर्वाणं
९८	३	तत्स्वरूप	तत्स्वरूप
९८	४	निर्वाण	निर्वाणं
१०२	१६	कामकी	कायकी

नोट—इसी आधा तथा शिन्दु-विसर्गादिकी दूसरी ऐसी साधारण अशुद्धियोंको यहां देने की ज़रूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।

समाधितंत्रपद्यानां वर्णनुक्रमसूची

अ	त	य
अचेतनमिदं दृश्य-	४६	वृत्त्यागाय निवर्तन्ते १०
अज्ञापितं न जानन्ति ५८	तद्ब्रह्माच्चत्परगन्पृच्छेत् ५२	यत्परः प्रातपाद्यो हं ११
अदुखभावितं ज्ञानं १०२	तान्यात्मनि भमारोण्य १०४	यत्पश्यामीन्द्रियैत्तं सं ५१
अनन्तरज्ञः संधते ९१	त्यक्तंवं वहिरात्मान- २७	यत्र नाहृतर्थीः पुमः ५३
अपमानादयस्तस्य ३८	त्यागादाने वाहमृढः ४७	यत्रेवा हितर्थीः पुमः ५३
अपुण्यमब्रतैः पुरायं ८२	ददा मनुद्विदेहादा- ७६	यथामी चेष्टते म्याणी ८२
अयत्नमाध्यं निर्वाणं १००	दश्यमानामदं मृदस् ४४	यदप्राह्यं न गृह्णति २०
अविद्विमं मनस्तत्त्वं २६	दृष्टभेदा यथा दृष्टि ५८	यदन्तज्जल्पमपृक्त- ८५
अविद्याभ्यासस्कारैः २७	देहान्तरगतेद्वीजं ७४	यदभावे सुपुत्रोऽहं ८४
अविद्यासंज्ञितरत्सान १८	देहं स्ववृद्धिरात्मानं १२	यत्र काये मुनेः प्रेम ४०
अविद्यान परित्यज्य ८४	देहे स्वामधिया जाताः १४	यदा माहाप्रजायते ३९
अविदी ब्रतमात्राय ८६	न जानन्ति शर्गाणि ६१	यद्वाधित्यनुमिच्छामि १९
आ	त	य
आत्मज्ञानात्परं कायं ५०	न तदमान्द्रयाश्रयंपु ५९	यम्य मम्पन्दमाभानि ६७
आत्मदेहान्तरज्ञान- ३४	नयन्यात्मानमात्मैव ७५	यंज्ञात मनसान्मानं ४८
आत्मन्यवात्मधीरन्यां ७७	नरदृष्ट्यमात्मान- ८८	येनात्माऽवृत्यतात्मैष १
आत्मविभ्रमजं दुष्क- ४१	नष्टं वस्त्रं यथात्मानं ६५	यो न वेत्ति परं देहात् २३
आत्मानमन्तरे दृष्टा ७९	नारकं नारकाग्रथं ९	यः परात्मा स एवाहं ३१
इत्तादं भावयेत्त्रिय- ५५	निमलः कंवलः शुद्धो ६	रक्तं वस्त्रं यथात्मानं ६६
उत्तमपुरुषपत्रान्ते- २१	परत्राहं माताः स्वम्माच् ४२	रागद्वेषादिकलोतः २५
उपास्यात्मानमेवात्मा ५८	पश्येत्त्रिगत्तरं देह- ५७	लिंगं देहाश्रितं हृष्टं १७
एवं त्यक्त्वा दहिर्वाचं १७	पूर्वं दृष्ट्यतत्त्वस्य ८०	व विदिताशेषपशास्त्राऽपि ५४
क्षीयन्ते उत्त्रेव गगाद्या- २५	प्रच्याठ्य विषयेभ्योऽहं ३२	व्यवहारे सुपुत्रो यः ७८
गौरः गृथूलः कृशोवाह- ७८	प्रयत्नादात्मनो वायु- १०२	श शारीरकंचुकं नात्मा ६८
प्रामोऽपरायमिति द्वेषा- ७२	प्रविशद् गलतो व्यूहं ६५	शरीरे वाच चात्मानं ५४
घने वस्त्रे यथात्मानं ६२	व्रहिरन्तः परञ्च ति ४	शुभं शरीरं दवत्राश्च ४२
चिरं सुपुत्राभ्यसि- ५६	व्रहिरात्मा शर्गागदी ५	शृणवन्नप्यन्यतः कामं ८१
जगद् हात्मन्दृष्टानां ४५	व्रहिरत्मेन्द्रियद्वारैः ६	श्रुतेन लिंगेन यथात्म- ३
जनेभ्यो वाक् ततः म्पन्दो ७२	मत्तश्चन्युत्वेन्द्रियद्वारैः १६	म भिन्निदाणि संयम्य ३०
जयन्ति यस्यावदतोऽपि २	मामपश्यन्नयं लोको २६	सुखमारव्ययोगम्य ५२
जातिदेहाश्रिता दृष्टा ८८	मुनिरेकान्तिर्की तस्य ७१	सुप्रान्मत्ताद्यवस्थैव १३
जातिलिंगविकल्पेन ८५	मुक्त्वा परत्र परवृद्धि १०५	माऽहमित्यात्तसंस्कारम् २८
जानन्प्यात्मनस्तत्त्वं ४९	मूढात्मा यत्र विश्रमतस् २९	स्वदेहसद्वशं नप्ता १०
जर्णेण वस्त्रे यथात्माने ६४	मूलं संसारदुःखस्य १५	स्वप्ने हृष्टे विनष्टेऽपि १०१
		स्वबुध्या यावद् गृगहीयात् ६२



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

